कल्याण

वर्ष ४८] * * * [अङ्क ७

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

संस्करण १,६२,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर श्रावण, श्रीकृष्ण-संवत् ५२००, जुलाई, १९७४

चित्र-सूची

Free of charge] जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—स्वामी रामसुखदास, पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री, साहित्याचार्य
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर
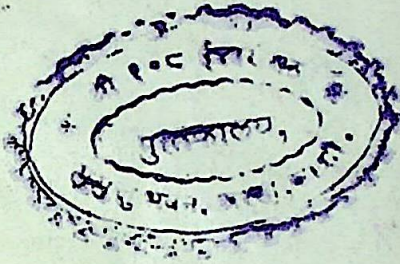
ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

यं निर्जरासुरनरा अखिलार्थसिद्ध्यै भूर्यन्तरायहतयेऽनुदिनं नमन्ति ।
तं भक्तकामपरिपूरणकल्पवृक्षं भक्त्या गणेशमखिलार्थदमानतोऽस्मि ॥

वर्ष ४८ } गोरखपुर, सौर श्रावण, श्रीकृष्ण-संवत् ५२००, जुलाई, १९७४ { संख्या ७ पूर्ण संख्या ५७२

श्रीरामका सेतुके द्वारा सिन्धु-लङ्घन

बाँधि सेतु अति सुदृढ़ बनावा । देखि कृपानिधि के मन भावा ॥
देखन कहुँ प्रभु करुना कंदा । प्रगट भए सब जलचर बृंदा ॥
प्रभुहि बिलोकहिं टरहिं न टारे । मन हरषित सब भए सुखारे ॥
तिन्ह कीं ओट न देखिअ बारी । मगन भए हरि रूप निहारी ॥
चला कटकु प्रभु आयसु पाई । को कहि सक कपि दल बिपुलाई ॥

(मानस ६ । ३ । १, २; ४-४½)

कल्याण

संतोंने घोषणा की है—'प्रकृतिके विस्तारका अन्त नहीं है और प्रकृतिका प्रत्येक पदार्थ, प्रकृतिकी प्रत्येक परिस्थिति अपूर्ण और अनित्य—फलतः परिणाममें दुःखप्रद है।' वस्तुतः प्रकृतिके क्षेत्रमें कहीं भी, किसी भी स्थितिपर पहुँच जाइये, निरन्तर कमी माल्म होगी, अभावका अनुभव होगा। उस अभावको मिटाने जाइये—या तो उसके मिटनेके पहले ही आप मिट जाइयेगा, अथवा कदाचित् वह मिटा भी तो दूसरा उससे भी बड़ा अभाव तुरंत उपस्थित हो जायगा, जो आपको नये दुःखोंमें डाल देगा। यथार्थतः सबसे बड़ा दुःख है—असंतोष और सबसे बड़ा सुख है—संतोष। अतः बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि वह प्रकृतिके क्षेत्रमें संतोष करे। महर्षि पतञ्जलिने अनुभूत सत्य बतलाया है—

'संतोषादनुत्तमसुखलाभः।' (योगदर्शन २।४२)
'संतोषसे सर्वश्रेष्ठ सुखकी प्राप्ति होती है।'

भगवान् श्रीकृष्णने भी गीतामें भक्तके लक्षण बतलाते हुए एक प्रसङ्गमें दो बार संतोषकी चर्चा की है—

'संतुष्टः सततम्' (१२।१४)
'संतुष्टो येन केनचित्।' (१२।१९)

'निरन्तर प्रत्येक परिस्थितिमें संतुष्ट रहे' और 'जिस किसी प्रकारसे रहना पड़े, उसीमें संतुष्ट रहे।' इसका अभिप्राय यह है कि यदि संसारकी दृष्टिसे—भोगदृष्टिसे दुःख, अभाव, प्रतिकूलता, विपत्ति आदि हों तो उनमें भी भक्त संतुष्ट रहे।

पद्मपुराणके वचन हैं—'जिसका मन संतुष्ट है, उसके लिये सर्वत्र सुख-सम्पत्ति भरी है, कहीं भी दुःख-विपत्ति नहीं है; वह हर हालतमें सुखी है, वैसे ही जैसे जिसके पैर जूतेसे ढके हैं, उसके लिये मानो सारी पृथ्वी चमड़ेसे ढकी है। संतोषरूपी अमृतसे तृप्त और शान्तचित्तवाले पुरुषोंको जो सुख प्राप्त है, वह धनके लोभसे इधर-उधर दौड़-धूप करनेवालोंको कहाँ मिल सकता है!'

(सृष्टिखण्ड, अ० १९)

संतोंकी इस अनुभवपूर्ण वाणी एवं शास्त्र-वचनोंके आधारपर हम अपनी स्थितिपर विचार करें तो हमें अनुभव होता है कि स्त्री, पुत्र, मकान, व्यापार, मान-इज्जत होनेपर भी हम दुःखी हैं; कारण, हमारे पास जितना, जो कुछ है, उससे हमको संतोष नहीं है अथवा दूसरोंके पास ये चीजें हमसे अधिक क्यों हैं—इसकी जलन हमारे हृदयमें है। इन दोनों विचारोंसे हम बेचैन हो जाते हैं तथा विवेक छोड़कर अधिक और अधिक प्राप्त करनेकी घुड़-दौड़में आगे बढ़ना चाहते हैं। परिणाम यह होता है कि और अधिक प्राप्त होनेके स्थानपर जो कुछ सम्पत्ति-कीर्ति हमारे पास रहती है, वह भी चली जाती है तथा हम नयी-नयी विपत्तियोंसे घिर जाते हैं। इस प्रकार हमारा अधिकांश दुःख, असंतोष और ईर्ष्या—दूसरोंके उत्कर्षको न सह सकनेकी दूषित वृत्तिसे हमारे मनद्वारा सृष्ट हैं। इन दोनों दुःखदायिनी वृत्तियोंसे छुटकारा पानेका सरल उपाय है—हम बार-बार उन करोड़ों-करोड़ों अपने ही सरीखे शरीर-मनवाले स्त्री-पुरुषोंकी स्थितिपर विचार करें, जो भाँति-भाँतिके अभावोंसे ग्रस्त हैं, विपन्न हैं—पूरा खाने-पहननेतकको नहीं पा रहे हैं। ऐसा करनेसे अभावग्रस्तोंके प्रति सहानुभूति उत्पन्न होगी और अपनी स्थितिके लिये भगवान्‌के प्रति कृतज्ञता जाग्रत् होगी। अतएव सुख-कामी व्यक्तियोंको चाहिये कि वे अपनी स्थितिके लिये भगवान्‌के कृतज्ञ बनें और भगवान्‌की दी हुई स्थिति एवं सामग्रियोंसे यथायोग्य एवं यथासाध्य समाजके अभावग्रस्तोंकी सेवा-सहायता करें। संतोष, मुदिता और करुणावृत्ति मनमें आयी कि हम सुखी हो जायँगे।

संक्षेपमें, अपनी स्थितिपर संतोष करना, दूसरोंके उत्कर्षको देखकर मुदित होना और दुःखियोंको देखकर करुणापूर्ण होना—मानवका परम कर्तव्य है और है दुःखनाशका सर्वोत्तम उपाय। जो चाहे, वह इस सत्यको आचरणमें लाकर स्वयं अनुभव कर ले।

'भाईजी'

ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

[वैराग्यका महत्त्व एवं उसकी प्राप्तिके उपाय]

कल्याणकी इच्छा करनेवाले पुरुषको वैराग्य-साधनकी परम आवश्यकता है। वैराग्य हुए बिना आत्माका उद्धार कभी नहीं हो सकता। सच्चे वैराग्यसे सांसारिक भोग-पदार्थोंके प्रति उपरामता उत्पन्न होती है, उपरामतासे परमेश्वरके स्वरूपका यथार्थ ध्यान होता है, ध्यानसे परमात्माके स्वरूपका वास्तविक ज्ञान होता है और ज्ञानसे उद्धार होता है। जो लोग ज्ञान-सम्पादनपूर्वक मुक्ति प्राप्त करनेमें वैराग्य और उपरामताकी कोई आवश्यकता नहीं समझते, उनकी मुक्ति वास्तवमें मुक्ति न होकर केवल उसका भ्रम ही होता है। वैराग्य-उपरामता-रहित ज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं, वह केवल वाचिक ज्ञान है, जिसका फल मुक्ति नहीं, प्रत्युत और भी कठिन बन्धन है। इसीलिये श्रुति कहती है—

> अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
> ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाःरताः॥
> (ईश० ९)

'जो अविद्याकी उपासना करते हैं, वे अन्धकारमें प्रवेश करते हैं और जो विद्यामें रत हैं, वे उससे भी अधिक अन्धकारमें प्रवेश करते हैं।'

ऐसा वाचिक ज्ञानी निर्भय होकर विषय-भोगोंमें प्रवृत्त हो जाता है। वह पापको भी पाप नहीं समझता, इसीसे वह विषयरूपी दलदलमें फँसकर पतित हो जाता है। ऐसे ही लोगोंके लिये यह उक्ति प्रसिद्ध है—

> ब्रह्म-ज्ञान जान्यो नहीं कर्म दिये छिटकाय।
> तुलसी ऐसी आतमा सहज नरक महँ जाय॥

वास्तवमें ज्ञानके नामपर महान् अज्ञान ग्रहण कर लिया जाता है। अतएव यदि यथार्थ कल्याणकी इच्छा हो तो साधकको सच्चे दृढ़ वैराग्यका उपार्जन करना चाहिये। किसी स्वाँगविशेषका नाम वैराग्य नहीं है। किसी कारणवश या मूढ़तासे स्त्री-पुत्र-परिवार-धनादिका त्याग कर देना, कपड़े रँग लेना, सिर मुँड़वा लेना, जटा बढ़ाना या अन्य बाह्य चिह्नोंको धारण करना वैराग्य नहीं कहलाता। मनसे विषयोंमें रमण करते रहना और ऊपरसे स्वाँग बना लेना तो मिथ्याचार—दम्भ है। भगवान् कहते हैं—

> कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
> इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥
> (गीता ३। ६)

'जो मूढबुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियोंको हठसे रोककर इन्द्रियोंके भोगोंका मनसे चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है।'

वैराग्य बहुत ही रहस्यका विषय है। इसका वास्तविक तत्त्व विरक्त महानुभाव ही जानते हैं। वैराग्यकी पराकाष्ठा उन्हीं पुरुषोंमें पायी जाती है, जो जीवन्मुक्त महात्मा हैं—जिन्होंने परमात्मरसमें डूबकर विषयरससे अपनेको सर्वथा मुक्त कर लिया है।

भगवान् कहते हैं—

> विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
> रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥
> (गीता २। ५९)

'इन्द्रियोंद्वारा विषयोंका ग्रहण न करनेवाले पुरुषके केवल विषय निवृत्त हो जाते हैं, रस (राग) नहीं निवृत्त होता; परंतु जीवन्मुक्त पुरुषका तो राग भी परमात्माको साक्षात् करके निवृत्त हो जाता है।'

वैराग्य-प्राप्तिके उपाय

वैराग्य-प्राप्तिकी इच्छा रखनेवाले साधकोंको चाहिये कि वे आरम्भमें संसारके विषयोंको परिणाममें हानि करनेवाले मानकर भयसे या दुःखरूप समझकर घृणासे

ही उनका त्याग करें । वारंवार वैराग्यकी भावनासे, त्यागके महत्त्वका मनन करनेसे, जगत्‌की यथार्थ स्थितिपर विचार करनेसे, मृत पुरुषों, सूने महलों, टूटे मकानों और खंडहरोंको देखने-सुननेसे, प्राचीन नरपतियोंकी अन्तिम गतिपर ध्यान देनेसे और विरक्त विचारशील पुरुषोंका सङ्ग करनेसे ऐसी दलीलें हृदयमें स्वयमेव उठने लगती हैं, जिनसे विषयोंके प्रति विराग उत्पन्न होता है। पुत्र-परिवार, धन-मकान, मान-बड़ाई, कीर्ति-कान्ति आदि समस्त पदार्थोंमें निरन्तर दुःख और दोष देख-देखकर उनसे मन हटाना चाहिये। भगवान्‌ने कहा है—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
(गीता १३ । ८-९)

'इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहंकारका भी अभाव एवं जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख-दोषोंका बारंबार विचार करना तथा पुत्र, स्त्री, घर और धनादिमें आसक्ति और ममताका अभाव करना चाहिये।'

विचार करनेपर ऐसी और भी अनेक दलीलें मिलेंगी, जिनसे संसारके समस्त पदार्थ दुःखरूप प्रतीत होने लगेंगे।

'योगदर्शन'का सूत्र है—

'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।' (साधनपाद १५)

'परिणामदुःख, तापदुःख तथा संस्कारदुःखोंसे मिश्रित होने और गुण-वृत्ति-विरोध होनेसे भी विवेकी पुरुषोंकी दृष्टिमें समस्त विषय-सुख दुःखरूप ही हैं।' अब यहाँ इसका कुछ खुलासा कर दिया जाता है—

परिणामदुःख—जो सुख आरम्भमें सुखरूप प्रतीत होनेपर भी परिणाममें महान् दुःखरूप हो, वह सुख 'परिणामदुःख' कहलाता है। जैसे रोगीके लिये आरम्भमें जीभको स्वादिष्ट लगनेवाला कुपथ्य। वैद्यके मना करनेपर भी इन्द्रियासक्त रोगी आपात-सुखकर पदार्थको स्वादवश खाकर अन्तमें दुःख उठाता, रोता, चिल्लाता है, इसी प्रकार विषयसुख आरम्भमें रमणीय और सुखरूप प्रतीत होनेपर भी परिणाममें महान् दुःखकर हैं। भगवान् कहते हैं—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥
(गीता १८ । ३८)

"जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है, वह यद्यपि भोगकालमें अमृतके सदृश भासता है, परंतु परिणाममें वह (बल, वीर्य, बुद्धि, धन, उत्साह और परलोकका नाशक होनेसे) विषके सदृश है; इसलिये वह सुख 'राजस' कहा गया है।"

दादकी खाज खुजलाते समय बहुत ही सुखद मालूम होती है, परंतु परिणाममें जलन होनेपर वही महान् दुःखद हो जाती है। यही विषय-सुखोंका परिणाम है। इस लोक और परलोकके सभी विषय-सुख परिणाममें दुःखको लिये हुए हैं। बड़े पुण्यसंचयसे लोगोंको स्वर्गकी प्राप्ति होती है, परंतु—

'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ॥'
(गीता ९ । २१)

'वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर पुनः मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं।' इसलिये गोसाईंजी महाराजने कहा है—

एहि तन कर फल बिषय न भाई ।
स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई ॥
(मानस ७ । ४३ । १)

तापदुःख—पुत्र, स्त्री, स्वामी, धन, मकान आदि सभी पदार्थ हर समय ताप देते—जलाते रहते हैं। कोई विषय ऐसा नहीं है, जो विचार करनेपर जलाने-

वाला प्रतीत न हो। इसके सिवा जब मनुष्य अपनेसे दूसरोंको किसी भी विषयमें अधिक बढ़ा हुआ देखता है, तब अपने अल्प सुखके कारण उसके हृदयमें बड़ी जलन होती है। विषयोंकी प्राप्ति, उनके संरक्षण और नाशमें भी सदा जलन बनी ही रहती है। कहा भी है—

अर्थस्य साधने सिद्ध उत्कर्षे रक्षणे व्यये।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम्॥
(श्रीमद्भा० ११। २३। १७)

'धन कमानेमें कई तरहके संताप, उपार्जन हो जानेपर उसकी रक्षामें संताप, कहीं किसीमें डूब न जाय, इस चिन्तानलमें सदा ही जलना पड़ता है; नाश हो जाय तो जलन, खर्च हो जाय तो जलन, छोड़कर मरनेमें जलन, मतलब यह कि आदिसे अन्ततक मनुष्योंको केवल संताप ही रहता है।' इसलिये इसको धिक्कार दिया गया। यही हाल पुत्र, मान, बड़ाई आदिकी है। सभीमें प्राप्तिकी इच्छासे लेकर वियोगतक संताप बना रहता है। ऐसा कोई विषय-सुख नहीं, जो संताप देनेवाला न हो।

संस्कारदुःख—आज स्त्री-स्वामी, पुत्र-परिवार, धन-मानादि जो विषय प्राप्त हैं, उनके संस्कार हृदयमें अङ्कित हो चुके हैं, इसलिये उनके समाप्त होनेपर संस्कारोंके कारण उन वस्तुओंका अभाव महान् दुःखदायी होता है। 'मैं कैसा था, मेरा पुत्र सुन्दर, सुडौल और आज्ञाकारी था, मेरी स्त्री कितनी सुशीला थी, मेरे पतिसे मुझे कितना सुख मिलता था, मेरी बड़ाई जगत्‌भरमें छा रही थी, मेरे पास लाखों रुपये थे, परंतु आज मैं क्या-से-क्या हो गया। मैं सब तरहसे दीन-हीन हो गया!' यद्यपि उसीके समान जगत्‌में लाखों-करोड़ों मनुष्य आरम्भसे ही इन विषयोंसे रहित हैं, परंतु वे ऐसे दुःखी नहीं हैं। जिसके विषय-भोगोंके बाहुल्यके समय सुखोंके संस्कार होते हैं, उसे ही उनके अभावकी प्रतीति होती है। अभावकी प्रतीतिमें दुःख भरा हुआ है, यही 'संस्कार-दुःख' है।

इसके सिवा यह बात भी सर्वथा ध्यानमें रखनी चाहिये कि संसारके सभी विषय-सुख सभी अवस्थाओंमें दुःखसे मिश्रित हैं।

गुण-वृत्तियोंके विरोधजन्य दुःख—एक मनुष्यको कुछ झूठ बोलने या छल-कपट, विश्वासघात करनेसे दस हजार रुपये मिलनेकी सम्भावना प्रतीत होती है। उस समय उसकी सात्त्विक वृत्ति कहती है—'पाप करके मिलनेवाले रुपये नहीं चाहिये; भीख माँगना या मर जाना अच्छा है, परंतु पाप करना उचित नहीं।' उधर लोभमूलक राजसी वृत्ति कहती है—'क्या हर्ज है? एक बार तनिक-सा झूठ बोलनेमें आपत्ति ही कौन-सी है? जरा-से छल-कपट या विश्वासघातसे क्या होगा? एक बार ऐसा करके रुपये कमाकर दारिद्र्य मिटा लें, भविष्यमें ऐसा नहीं करेंगे।'

इस तरह सात्त्विकी और राजसी वृत्तिमें महान् युद्ध मच जाता है। इस झगड़ेमें चित्त अत्यन्त व्याकुल और किंकर्तव्यविमूढ़ हो उठता है। विषाद और उद्विग्नताका पार नहीं रहता।

इसी तरह राजसी-तामसी वृत्तियोंका झगड़ा होता है। एक मनुष्य शतरंज या ताश खेल रहा है। उधर उसके समयपर न पहुँचनेसे घरका आवश्यक काम बिगड़ता है। कर्ममें प्रवृत्ति करानेवाली राजसी वृत्ति कहती है—'उठो, चलो, हर्ज हो रहा है, घरका काम करो।' इधर प्रमादरूपा तामसी वृत्ति पुनः-पुनः उसे खेलकी ओर खींचती है। वह बेचारा इस दुविधामें पड़कर महान् दुःखी हो जाता है।

उदाहरणके लिये ये दो दृष्टान्त पर्याप्त हैं।

इस प्रकार विचार करनेसे यह स्पष्ट विदित होता है कि संसारके सभी सुख दुःखरूप हैं। अतएव इनसे मन हटानेकी भरपूर चेष्टा करनी चाहिये।

उपर्युक्त भयसे और विचारसे होनेवाले दोनों प्रकारके वैराग्योंको प्राप्त करनेके ये ही उपाय हैं; ये उपाय पूर्वापेक्षा उत्तम श्रेणीके वैराग्य-सम्पादनमें भी अवश्य

ही सहायक होते हैं। परंतु अगले दोनों वैराग्योंकी प्राप्तिमें निम्नलिखित साधन विशेष सहायक होते हैं—

परमात्माके नाम-जप और उनके स्वरूपका निरन्तर स्मरण करते रहनेसे हृदयका मल ज्यों-ज्यों दूर होता है, त्यों-त्यों उसमें उज्ज्वलता आती है। ऐसे उज्ज्वल और शुद्ध अन्त:करणमें वैराग्यकी लहरें उठती हैं, जिनसे विषयानुराग मनसे स्वयमेव ही हट जाता है। इस अवस्थामें विशेष विचारकी आवश्यकता नहीं रहती। जैसे मैले दर्पणको रूईसे घिसनेपर ज्यों-ज्यों उसका मैल दूर होता है, त्यों-ही-त्यों वह चमकने लगता है और उसमें मुखका प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखलायी पड़ता है; इसी प्रकार परमात्माके भजन-ध्यानरूपी रूईकी रगड़से अन्त:करणरूपी दर्पणका मल दूर होनेपर वह चमकने लगता है और उसमें सुखस्वरूप आत्माका प्रतिबिम्ब दीखने लगता है। ऐसी स्थितिमें जरा-सा भी बाकी रहा हुआ विषय-मलका दाग साधकके हृदयमें शूल-सा खटकता है। अतएव वह उत्तरोत्तर अधिक उत्साहके साथ उस दागको मिटानेके लिये भजन-ध्यानमें तत्पर होकर अन्तमें उसे सर्वथा मिटाकर ही छोड़ता है। ज्यों-ज्यों भजन-ध्यानसे अन्त:करणरूपी दर्पणकी सफाई होती है, त्यों-त्यों साधककी आशा और उत्साह बढ़ता रहता है। भजन-ध्यानरूपी साधन तत्त्व न समझनेवाले मनुष्यको ही भाररूप प्रतीत होता है। जिसको इसके तत्त्वका ज्ञान होने लगा है, वह तो उत्तरोत्तर आनन्दकी उपलब्धि करता हुआ पूर्णानन्दकी प्राप्तिके लिये भजन-ध्यान बढ़ाता रहता है। उसकी दृष्टिमें विषयोंमें दीखनेवाले विषय-दु:खकी कोई सत्ता नहीं रह जाती। इससे उसे दृढ़ वैराग्यकी बहुत शीघ्र प्राप्ति हो जाती है। भगवान्‌ने इस दृढ़ वैराग्यरूपी शस्त्रद्वारा ही अहंता, ममता और वासनारूप अतिदृढ़ मूलवाले संसाररूप अश्वत्थ-वृक्षको काटनेके लिये कहा है—

'अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥'
(गीता १५।३)

संसारके चित्रको सर्वथा भुला देना ही इस अश्वत्थ-वृक्षका छेदन करना है। दृढ़ वैराग्यसे यह काम सहज ही हो सकता है।

भगवान् पुन: कहते हैं—

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥
(गीता १५।४)

इसके उपरान्त उस परमपदरूप परमेश्वरको अच्छी प्रकार खोजना चाहिये। उस परमात्माके विज्ञान आनन्दघन—**'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** का बारंबार चिन्तन करना ही उसे ढूँढ़ना है। जिसमें गये हुए पुरुष फिर इस संसारमें वापस नहीं आते और जिस परमेश्वरसे यह पुरातन संसार-वृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है, उसी आदिपुरुष नारायणकी मैं शरण लेता हूँ। उस परमपदके स्वरूपको पकड़ लेना—उसमें स्थिर हो जाना ही उसकी शरण लेना है।

इस प्रकार शरण लेनेपर क्या स्थिति होती है, इसका संकेत करते हुए भगवान् कहते हैं—

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥
(गीता १५।५)

'नष्ट हो गया है मान और मोह जिनका तथा जीत लिया है आसक्तिरूप दोष जिन्होंने और परमात्माके स्वरूपमें है निरन्तर स्थिति जिनकी तथा अच्छी तरह नष्ट हो गयी है कामना जिनकी, सुख-दु:ख नामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त हुए ऐसे वे ज्ञानीजन उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं।'

एक संतके सदुपदेश

हमारे शास्त्रों तथा संतोंने मानव-देहको उत्तम योनि माना है; क्योंकि इसके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति सुलभ है। इस मानव-देहको 'धर्मक्षेत्र' कहते हैं। इस धर्मक्षेत्रमें धर्मरूपी बीज बोकर भक्तिरूपी जलसे उसका सिंचन करें तो इस अनमोल देहसे यह जीव परमेश्वरको प्राप्त कर सकता है। भगवान्ने दया करके मानवीय देह और इन्द्रियोंको भगवत्प्राप्तिके लिये ही दिया है। उनके द्वारा यह जीव परमपिता प्रभुको याद करते हुए संसारके कार्योंको करता रहे! जीवमात्रके लिये भगवान्की ऐसी ही आज्ञा है। जो मानव भगवत्-आज्ञासे विमुख होता है, उसे पशुके समान समझना चाहिये। फिर भी भगवान्की उसपर दया होती है। किंतु मायामें फँसा जीव इस बातको समझ नहीं पाता।

इस कलियुगमें मानवके उद्धारके लिये भगवान्ने अत्यन्त सहज साधन बतलाया है। यदि मनुष्य इन्द्रियोंको संयममें रखकर मनको परमात्मामें लगाये रखे तो वह निष्पाप हो जायगा तथा निष्पाप होनेपर वह निष्काम बनेगा। निष्काम कर्म करना उत्तम साधन है। इस साधनके द्वारा जीव कृतार्थ हो जाता है। निष्काम भक्त भगवान्को बहुत प्रिय लगता है। श्रीराधिकाजी, श्रीपार्वतीजी तथा श्रीसीताजीने निष्काम भक्तिसे जीवन-यापन किया है, इस कारण भगवान् स्वयं इन अलौकिक शक्तियोंका चिन्तन करते हैं।

भक्ति महान् शक्ति है। गायत्री भी भक्तिका ही नाम है। योगमाया भी भगवान्की सेविका है, इससे भगवान् 'योगेश्वर' कहलाते हैं। योगमाया भगवान्की परमा शक्ति है, जिससे यह निरञ्जन अजर-अमर अविनाशी परमात्मा इस क्षर देहमें क्षराक्षरातीत तत्त्वके रूपमें विराजता है। यह तत्त्व 'पुरुषोत्तम' कहलाता है।

भगवान्के अवतार लेनेमें अनेक कारण होते हैं, शास्त्रोंमें उन कारणोंका विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। परंतु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका प्राकट्य पापियोंके उद्धार, अपने भक्तों और साधुजनोंकी रक्षा तथा सनातनधर्मकी स्थापना करनेके लिये और गो-ब्राह्मणोंकी सेवा, रक्षा तथा उनकी पूजा करनेके लिये होता है। इसी प्रकार दुष्टोंका विनाश भी भगवान् श्रीकृष्णके अवतारका प्रयोजन है। भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाका श्रवण और चिन्तन करनेसे आत्माका कल्याण होता है। भगवान्की लीला अलौकिक है। भगवान् अपने कर्ममें दक्ष हैं और अनेक अभिमानी असुरोंका अभिमान चूर्ण करते हैं। वे राक्षसोंका संहार करते हैं। भगवान्ने जब कंसको अपनी योग-मायाका दर्शन कराया, उस समय योगमायाने आकाशमें प्रकट होकर आकाश-वाणी की थी कि 'तुम्हारे कालरूप विष्णुका अवतार हो गया है। देवकीके आठवें गर्भसे श्रीकृष्ण गोकुलमें प्रकट हो गये हैं।'

इस कालरात्रिकी कंसको कुछ भी खबर न थी। भगवान् शक्तिमान् होनेके साथ ही मुक्तिमान् भी हैं। वे पापी राक्षसोंका संहार करके, उनको निष्पाप बनाकर कृतार्थ करते हैं। भगवान् स्वयं किसी जीवके साथ वैर-भाव नहीं रखते। वे सबके प्रति समभाव रखते हैं; जीवमात्रके माता-पिता, गुरु, बन्धु और पुत्ररूपमें अवतरित होते हैं। जिसका जैसा भाव होता है, प्रभु उसको उसी रूपमें दर्शन देते हैं। जीव कोरोड़ों उपाय करे, परंतु अपने भीतर विराजमान आत्म-तत्त्वको जबतक नहीं देखता, तबतक अनेक साधन करनेपर भी वह अपूर्ण रहता है। अन्तरमें स्थित आत्मतत्त्वके द्वारा आत्माका उद्धार कर लेना ही सत्य पुरुषार्थ है। यह आत्मा आनन्दस्वरूप है; क्योंकि यह अखण्ड आनन्दस्वरूप परमात्मासे उत्पन्न होता है। यह निजानन्द-स्वरूप आत्मा सर्वव्यापक है, परंतु परब्रह्मकी शरण लिये बिना इसके लिये शान्ति प्राप्त करनेका दूसरा कोई उपाय नहीं है।

जीवके कितने जन्म हो चुके हैं, इसे वह नहीं जान सकता और वह इस मानव-जन्मको भी नहीं जानता; फिर भला अगले जन्मोंके विषयमें क्या जान सकता है। परंतु परमात्मा अपने तथा जीवमात्रके जन्म और कर्मको जानता है, यह उसकी महत्ता है। भगवान्के सगुण और निर्गुण रूप जीवकी अपनी इच्छाके कारण हैं। जीव जिस भावसे भगवान्को भजता है, उसी भावमें भगवान्को पाता है। भगवान्को जान लेनेपर फिर

सगुण-निर्गुण भेद नहीं रहता । परंतु सगुण भगवान्की उपासना और भक्ति किये बिना निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्ति बहुत कठिन है । अतएव सगुण मूर्तिका दर्शन और पूजन उत्तम कार्य है । करोड़ों जीवोंमें किसी एकको निर्गुण ब्रह्मकी अनुभूति होती है, ऐसा गीतामें कहा है ।

इन्द्रियोंको संयममें रखकर सात्त्विक श्रद्धा और प्रेमसे निरन्तर परमेश्वरका भजन करना मानवमात्रके लिये उत्तम साधन है । इस साधनसे जीवात्मा शुद्ध होकर संसारके संस्कार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है । परंतु भगवत्-कृपाके बिना यह साधन दुर्लभ है ।

आज राजालोग अपने किये हुए पाप-कर्मोंसे प्रायः विनष्ट हो गये हैं, परंतु उनसे भी विशेष पाप प्रजावर्गमें हो रहा है । जिस प्रकार समुद्रमें जलका आवागमन होता रहता है, उसी प्रकार जीवात्माका परमात्मामेंसे आवागमन होता रहता है । परंतु मानव मोहनिद्रामें सोया रहता है, जबतक जाग्रत् नहीं होता, तबतक इसको माया-मोह बहुत त्रास देते रहते हैं ।

संसारके सारे विषय मायाकृत हैं । माया सत्त्व, रज और तम—त्रिगुणस्वरूपा है । यह दो प्रकारकी कही जाती है—विद्या और अविद्या । इसमें विद्या-माया सत्त्वगुणी है, जो जीवको बन्धनसे मुक्त करती है । अविद्या-माया बन्धन कराती है । इस कलियुगमें मानव विशेषरूपसे राजसिक और तामसिक भावनासे युक्त होता है । जैसी भावना रखकर कार्य करता है, उसी प्रकृतिके आधारपर यह जीव कर्त्ता और भोक्ता बनता है । यह प्रकृति निर्मल आत्मतत्त्वके ऊपर आवरणस्वरूप रहती है । प्राण और प्रकृतिके साथ इस जीवात्माका जबतक सम्बन्ध रहता है, तबतक इसका आवागमन चलता रहता है । प्रकृतिके अनेक भेद और गुणके मोहमें फँसा जीव अपने स्वरूपको भूल गया है । जैसे बिजलीका लैम्प अपने प्रकाशको स्वयं नहीं जानता, किंतु उस प्रकाशका जो अनुभव करता है, वही उसे जानता है; क्योंकि बिजलीका लैम्प जड है । यह दृष्टान्त एक जीवको समझानेका साधन है, यह एक विज्ञान है । इस विज्ञान या अनुभवके बिना जीवात्मा परमार्थ-तत्त्वको नहीं जान सकता । विद्युत्-शक्ति जलसे उत्पन्न होती है और उस जलमें वरुण देवताके रूपमें परमात्मा वास करते हैं, परंतु इन सारी क्रियाओं और साधनोंमें वह निमित्तरूप हैं, इस प्रकार सारे ब्रह्माण्डका संचालन करनेके लिये कालरूपमें तथा इस विश्वके सृजन, पालन और संहार करनेके लिये विभूतिरूपमें परमात्मा ही हैं । वह कर्त्ता होकर भी अकर्त्ता हैं । परमात्मा सदा ही अखण्ड, अविनाशी, निर्विकार, शान्त, सुन्दर तथा सर्व-शक्तिमान् रहते हैं, तथापि अभिमानी जीव अहंकार करता है । भगवान् प्रत्येक जीवको कर्म करनेमें निमित्त बनाते हैं । अन्याय करनेवाला दण्डका भागी बनता है । इस कलियुगमें अन्यायके द्वारा पापकी वृद्धि होती है । मानवको कर्मा-नुसार भोग मिलता है, इस कारण पापकी वृद्धिके साथ-साथ दुःख भी बढ़ता जाता है । भगवान् पाप या पुण्य अपने पास इकट्ठा नहीं होने देते । पाप और पुण्य जैसे-जैसे होते हैं, उनका वैसा फल देकर भगवान् प्रसन्न रहते हैं; क्योंकि भगवान्का स्वरूप शान्त और अखण्ड आनन्दस्वरूप है । जो मनुष्य भलीभाँति संयम-नियम और सदाचारपूर्वक जीवन व्यतीत करता है, उसकी सहायता परमपिता परमेश्वर अवश्य करते हैं । इस कलियुगमें भगवच्चिन्तन, भगवद्गुणानुवाद तथा कीर्तन भवसागरसे उद्धारके उत्तम साधन हैं । ऐसा सहज और सरस उपाय जो नहीं करता, वह मानव इस धरतीपर भारस्वरूप है । इस धरतीका स्वरूप गौमाता है । इसी कारण भगवान् श्रीकृष्णने बाल-लीलामें गोप और गोपियोंके साथ उत्तम रीतिसे गो-सेवा की है । गो-सेवासे बढ़कर कोई दान-पुण्य नहीं है । यह शिक्षा भगवान् श्रीकृष्णकी बाल-लीलासे मिलती है । यदि उचित रीतिसे गो-सेवा हो तो गोधनकी वृद्धिके साथ-साथ सात्त्विकता बढ़ेगी और सात्त्विक आहार होनेसे भगवच्चिन्तन आदि साधनोंकी ओर सहज प्रवृत्ति होगी । भगवान्ने जीवको शान्ति प्राप्त करनेका साधन और उपाय बतला दिया है । जबतक आहार सात्त्विक नहीं होगा, तबतक बुद्धि शुद्ध न होगी और न भगवान्का भजन हो सकेगा । इसलिये गो-सेवाका प्रश्न भारतीय प्रजाके लिये बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है । गोवंशकी वृद्धिकी ओर सरकारकी और प्रजावर्गकी जैसी रुचि होनी चाहिये, वैसी नहीं है । यह धर्मका कार्य है, यह आन्दोलन-अनशन आदिसे न होगा । इस कार्यमें प्रजावर्गके साथ मठाधीश, आचार्य-महन्त आदि एक जुट होकर त्यागवृत्तिसे लग जायँगे और ऊपरसे सरकारका भी सहयोग होगा तो सफलता प्राप्त होनेमें देर न लगेगी । धर्म-कार्यमें त्याग-वृत्तिके बिना काम ही न चलेगा । त्यागके साथ-साथ लगन भी होनी

चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं प्रेमके साथ गोचारण करके हमारे लिये आदर्श उपस्थित कर दिया है।

परंतु बड़े ही दुःखकी बात है कि भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा दिखलाये गये इस आदर्शसे भारतीय जनता विमुख हो गयी है। धर्म-संस्थाओंको जो लोग चला रहे हैं तथा जिनके पास धन-सम्पत्ति है, ऐसे आचार्य, महन्त आदि भी इस गो-सेवाके कार्यमें पूरा ध्यान नहीं देते। संस्थाकी धन-सम्पत्तिको धर्मशाला-अतिथिगृह आदिमें खर्च न करके यदि अपने-अपने आश्रम, मठ-मन्दिर आदिमें अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार गोशाला चलायें तो जनताके लिये आदर्श उपस्थित कर सकते हैं। देशमें विशाल धर्मशालाएँ, विशाल विद्याभवन तथा विशाल बोर्डिङ्ग (छात्रावास) आदि बनते जा रहे हैं, परंतु विशाल गोशाला तैयार करके पशु-पालनकी ओर कहीं प्रवृत्ति नहीं हो रही है, यह अन्याय है।

ये निष्पाप पशु दुःखी हैं। उनकी सेवाके द्वारा उनको प्रसन्न किये बिना भगवान् प्रसन्न नहीं हो सकते। सुख-दुःख, मान-अपमानको समझनेकी बुद्धि पशुमें भी होती है। पशुजातिकी सेवा करना महान् पुण्य है। यदि सब कुछ भगवदिच्छासे होता है, ऐसा मानकर उद्योग नहीं करते तो यह ठीक बात नहीं है। भगवान् आशा और इच्छारहित हैं। वे दयालु हैं, शुभ इच्छावालोंको प्रेरणा प्रदान करते हैं; उनके अन्तरात्मामें प्रेरक बनकर सारी शुभ इच्छाओंको पूर्ण करते हैं। परंतु काल-कर्मके बन्धनमें पड़ा जीव भगवत्-कृपाको समझ नहीं पाता और ईश्वरको मिथ्या दोष देता है। सर्कसमें हिंसक प्राणियोंको मनुष्य शिक्षा देता है और हिंसक पशु भी इससे अपने हिंसक स्वभावको त्याग देता है। उनका भरपूर पालन-पोषण करके मनुष्य सर्कससे उनके द्वारा काफी लाभ उठाता है। परंतु अहिंसक पशुओंका, जो हमारे लिये अत्यन्त उपयोगी हैं, वध करना तथा उनका समुचित पालन-पोषण न करना—कितना अन्याय और पापकर्म है! अहिंसक पशुओंकी समुचित सेवा करनेसे उनके आशीर्वादसे मनुष्यका कल्याण होता है तथा विश्वमें शान्ति होती है। इसलिये भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये कि वे कुशल और उत्साही पवित्र आत्माओंको इस शुभ कार्यके लिये प्रेरित करें, जिससे इस अशान्त विश्वमें शान्ति स्थापित हो सके। लोग शुभ-कार्यमें लगें, अशुभ कर्मोंका त्याग करें, उपयोगी कार्योंमें विज्ञानका उपयोग करें और परोपकारमें प्रवृत्त होकर मानव-जीवनको सफल करें।

आज मनुष्य भोग-विलासकी ओर अधिक प्रवृत्त हो रहा है। यह शान्ति और सुखकी प्राप्तिका मार्ग नहीं है। भोगकी वृद्धिसे रोगका बढ़ना स्वाभाविक है। माया-मोह और अविद्याके वश होकर मानव आज दानव-जैसा आचरण कर रहा है। सर्वत्र राजसी और तामसी प्रकृतिका राज्य है। यह मानव-समाजकी अधोगति है। वह सर्वनाशकी ओर जा रहा है। इससे बचनेका उपाय एकमात्र यही है कि भोग-विलासकी ओरसे मनको हटाकर मनुष्य संयम और संतोषका अभ्यास करे तथा भगवान्के शरणापन्न होकर भजन-कीर्तनमय जीवन बनाये। भगवान्से प्रार्थना है कि वे सबको सद्बुद्धि देकर शुभ कर्मोंमें लगनेके लिये प्रेरणा प्रदान करें।

'सब तजि भजिऐ नंदकुमार'

सब तजि भजिऐ नंदकुमार।
और भजे तैं काम सरै नहिं, मिटै न भव-जंजार॥
जिहिं-जिहिं जोनि जनम धारयौ, बहु जोरयौ अघ कौ भार।
तिहि काटन कौं समरथ हरि कौ तीछन नाम-कुठार॥
बेद-पुरान, भागवत-गीता, सब कौ यह मत सार।
भव-समुद्र हरि-पद-नौका बिनु कोउ न उतारै पार॥
यह जिय जानि इहीं छिन भजि, दिन बीते जात असार।
'सूर' पाइ यह समौ लाहु लहि दुर्लभ, फिरि संसार॥

—श्रीसूरदास

भगवान् श्रीकृष्णका मङ्गलमय स्मरण

[नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारद्वारा श्रीकृष्ण-जन्माष्टमीपर दिया गया प्रवचन]

श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी नित्य अजन्माके दिव्य जन्मका महामहोत्सव-दिवस है। समस्त प्रकृतिको धन्य करते हुए इस दिन स्वयंरूप दिव्य नराकृति भगवान् प्रकट हुए हैं। भगवान्के अनेक विभिन्न अवतार होते हैं— पुरुषावतार, लीलावतार, गुणावतार, मन्वन्तरावतार, युगावतार, आवेशावतार, कल्पावतार, कलावतार, अर्चावतार आदि; और भगवान् स्वरूपतः नित्य-सत्य-परिपूर्णतम होनेके कारण उनका प्रत्येक रूप ही नित्य, शाश्वत, सच्चिन्मय, हानोपादानरहित, परानन्दसंदोह और पूर्णतम है, तथापि लीलाकी दृष्टिसे शक्तिके प्रकाशके तारतम्यानुसार भेद दिखायी देता है—

पूर्तिः सार्वत्रिकी यद्यप्यविशेषा तथापि हि।
तारतम्यं च तच्छक्तेर्व्यक्त्यव्यक्तिकृतं भवेत्॥
(प्रमेयरत्नावलि १। १४)

पर जब भगवान् स्वयं अपने पूर्णरूपमें प्रकट होते हैं, तब वे सर्वावतारमय होते हैं। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण प्रतिकल्पमें स्वयंरूपमें प्रकट होते हैं और वे प्रकट होते हैं मधुर मनोहर नर-वपुरूपमें। इसीसे भगवान्के सर्वभूतमहेश्वर सर्वरूपके तत्त्वको न जाननेवाले मूढ़ लोग भगवान्के इस मानुषरूपको देखकर उनको पाञ्चभौतिक-देह-विशिष्ट मनुष्य मान लेते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥
(गीता ९। ११)

वास्तवमें स्वयं भगवान्की यह नराकृति नरलोकके नर-शरीरोंके आदर्शपर बनी हुई नहीं है; यह नित्य है। वस्तुतः भगवत्-देहके आदर्शपर नर-शरीरका निर्माण है। भगवान्का शरीर दिव्य, अप्राकृत, देह-देहि-भेदसे रहित, जन्म-मृत्युसे रहित, सर्व-कारण-कारण, नित्यसिद्ध, निर्विकार, अनादि, सर्वादि, सच्चिदानन्दघनस्वरूप है और नरलोकका नर-शरीर रक्त-मांसादिसे गठित, खण्डित, जन्म-मृत्युशील, पञ्चभूतनिर्मित, आत्मा (देही) और देहके भेदसे युक्त तथा विनाशी है। भगवद्विग्रह स्वेच्छामय विशुद्ध भगवत्स्वरूप है—

'स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।'
(श्रीमद्भागवत १०। १४। २)

उसका प्रारब्ध-परवश-निर्माण, कर्मभोग तथा विनाश नहीं होता। वह नित्य, सत्य, सनातन तथा दिव्यकर्मा है। भगवत्स्वरूपा प्रकृतिमें अधिष्ठित होकर अपनी ही स्वरूपभूता लीलारूप मायासे प्रकट और अप्रकट होता है।

तन्त्रशास्त्रमें कहा गया है—

निर्दोषपूर्णगुणविग्रह आत्मतन्त्रो
निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीनः।
आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः
सर्वत्र च स्वगतभेदविवर्जितात्मा॥

भगवान्का दिव्य शरीर मोह, तन्द्रा, भ्रम, रूक्षता, काम, क्रोध, असत्य, आकाङ्क्षा, आशङ्का, रोग, जरा, भय, विभ्रम, विषमता, परापेक्षा, परिवर्तनशीलता, अनित्यता, विनाश आदि दोषोंसे सर्वथा रहित तथा सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, सत्यविज्ञानानन्दरूपता, सर्वैश्वर्य, असमोर्ध्व माधुर्य आदि गुणोंसे परिपूर्ण है। वह काल-कर्मादिके अधीन नहीं है, पाञ्चभौतिक शरीरके जडत्व आदिसे रहित है। उसके हाथ, पैर, मुख, उदर आदि सभी एकमात्र दिव्य—चिन्मयानन्दरूप हैं और उसमें—वृक्षमें पत्र-पुष्प-फलादिकी भाँति स्वगत, दूसरे फलके वृक्षके रूपमें सजातीय तथा शिला आदिके रूपमें विजातीय भेद नहीं है; वह केवल भगवद्रूप ही है।

भगवान्के अवतारके तीन हेतु माने गये हैं— 'साधुओंका परित्राण', 'दुष्कृतकारियोंका विनाश' और

'धर्मका संस्थापन'। स्वयं-भगवान्‌के इस स्वरूपावतारमें अन्यान्य अवतारी रूपोंका समावेश होनेके कारण भगवान्‌के द्वारा पापात्मा राजाओंके रूपमें प्रकट असुरोंका, अन्यान्य विविध रूपोंमें प्रकट असुरोंका तथा उनके अनुगामी आसुरभावापन्न दुष्कृतकारियोंका विनाश, इन सब क्रूरकर्मा दुराचारपरायण दुष्ट-प्रकृतिवालोंके द्वारा सताये हुए सदाचारी साधु-प्रकृति पुरुषोंका परित्राण और जघन्य पापप्रवृत्तिमय असुर-मानवोंके द्वारा प्रचारित अधर्मका विध्वंस करके विशुद्ध सनातन-धर्मका संस्थापन—ये तीनों मङ्गलमय महान् कार्य सुसम्पन्न होते हैं—इसमें कोई संदेह नहीं। अतएव जो लोग इन निमित्तोंसे भगवान्‌का अवतरित होना मानते हैं, वे ठीक ही मानते हैं।

परंतु स्वयं-भगवान्‌का परिपूर्ण स्वयंरूपावतार युगावतारोंकी भाँति केवल धर्मग्लानि और अधर्मकी वृद्धि होनेपर साधु-परित्राण, दुष्ट-विनाश और धर्म-संस्थापनके लिये ही नहीं होता वह तो उनके निज प्रेमस्वरूप-वितरणके लिये—स्वरूपानन्द-आस्वादनरूप विनोदके लिये ही होता है। इसीसे श्रीमद्भागवतमें ब्रह्मादि देवताओंने श्रीदेवकी-गर्भ-स्तुतिमें कहा है—

न तेऽभवस्येश भवस्य कारणं
विना विनोदं बत तर्कयामहे।
भवो निरोधः स्थितिरप्यविद्यया
कृता यतस्त्वय्यभयाश्रयात्मनि॥
(१०।२।३९)

इसका भावार्थ यह है कि 'हे ईश—सर्वनियन्ता! आप अजन्मा हैं। आपके इस दिव्य जन्मका हेतु विनोद (स्व-स्वरूपानन्दास्वादन)के सिवा अन्य कुछ भी नहीं हो सकता; (जगत्‌की सृष्टि, स्थिति, लय आदि आपके इस आविर्भावमें हेतु नहीं हैं) क्योंकि आप सर्वाश्रय हैं। आपकी आश्रिता मायाशक्तिके द्वारा ही ब्रह्मा-रुद्र आदि आपके गुणावतार इन कार्योंको सम्पन्न करते रहते हैं। आप अभय हैं। आपके नाम-कीर्तन-स्मरणाभाससे ही कंस आदि असुरोंके भयसे पूर्णतया रक्षा हो सकती है। उन असुरोंका वध करके धर्म-संस्थापन करनेके लिये आपके स्वयं आविर्भूत होनेकी आवश्यकता नहीं।'

अतएव इस दृष्टिसे उपर्युक्त 'साधु-परित्राण', 'दुष्कर्मियोंके विनाश' और 'धर्म-संस्थापन'का एक दूसरा रूप होता है और उसीके लिये स्वयं-भगवान्‌का अवतरित होना प्रेमी भक्तगण मानते हैं—स्वयं-भगवान् अपने इस अखिल-रसामृत-मूर्ति, अचिन्त्य-अनिर्वचनीय-परस्पर-गुणधर्माश्रयस्वरूप, घनीभूत परम-प्रेमानन्द-सुधामय मधुर मनोहर दिव्यातिदिव्य चिन्मय नित्यलीला-विग्रहका दर्शन-दान करके उन साधुओंका परित्राण करते हैं, जो अपने परम प्रियतम भगवान्‌के नित्य मङ्गलमय, दिव्य प्रेम-रसमय और परमानन्द-रसमय दर्शनकी तीव्रतम उत्कण्ठासे अतुलनीय विरह-वेदनाका अनुभव कर रहे हैं और अपने जीवनके एक-एक पलको भीषण विरहानलकी भयानक ज्वालासे दग्ध होते बिता रहे हैं। यही उनका 'साधु-परित्राण' है।

इसी प्रकार स्वयं-भगवान् उन दुष्कृतकारियोंके, उन परम सौभाग्यशाली असुरोंके देहका वियोग करके उन्हें सहज ही अपने ऋषि-मुनि-योगि-दुर्लभ दिव्य परम कल्याणरूप परमधाममें पहुँचा देते हैं, जो केवल भगवान्‌के ही मङ्गलमय दिव्य कर-कमलोंद्वारा देहत्याग करके भगवान्‌के दिव्यधाममें पहुँचनेके अधिकारी बन चुके हैं। भगवान्‌के स्वहस्तसे निहत होकर वे सदाके लिये पृथ्वीका परित्याग करके भगवद्धाममें चले जाते हैं; अतएव वस्तुतः इसीसे पृथ्वीका भार-हरण होता है। भगवान्‌का यह 'निग्रह'भी 'परम अनुग्रह'-रूप होता है। इसमें भगवान् उन असुरोंका वध नहीं

करते, परंतु स्व-स्वरूप-दान करके उन्हें कृतार्थ करते हैं। यही दुष्कर्मियोंका विनाश है।

एवं धर्म-संस्थापनका अभिप्राय यह है कि भगवान् उस काम-कलुषित मोह-विजृम्भित विषय-सेवनरूप अधर्मके अभ्युत्थानका ध्वंस करके भुक्ति-मुक्तिकी वाञ्छाके सहज सर्वत्यागसे सुसम्पन्न, परम उत्कृष्ट, असमोर्ध्व मधुर, विशुद्ध, गुणातीत प्रेमधर्मकी स्थापना करते हैं।

स्वयं-भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण ऐश्वर्यस्वरूप हैं। वे सर्वरसमय हैं। उन पूर्णैश्वर्यमय भगवान्में जो माधुर्य है, वह पूर्णैश्वर्यमय स्वरूपमें ही भगवत्स्वरूप मधुरताकी नित्य अभिव्यक्ति है। ऐश्वर्यरहित मधुरता वास्तविक माधुर्य नहीं है। वह तो आपातमधुर विष-सदृश है—

'अग्रेऽमृतोपमम् परिणामे विषमिव।'

(गीता १८। ३८)

नराकृति सच्चित्-माधुर्यरूप भगवान्में और विषयगत मिथ्या-माधुर्ययुक्त मनुष्यमें सभी कुछ भिन्न है। भगवान्का माधुर्य सत्य, अप्राकृत, चिदानन्दघन है और मनुष्यका माधुर्य मिथ्या, प्राकृत—जड और विनाशमय है।

भगवान्के माधुर्यका अर्थ है—नित्य पूर्ण ऐश्वर्यमय भगवान्का गूढ़तम नर-विग्रह और उनकी दिव्यानन्दमयी नरलीला। इस लीलामें अशेष सौन्दर्य, लालित्य, चारुता, मधुरता और वैदग्ध्यादि गुणोंका वह अतुलनीय विलक्षण समूह होता है, जो समस्त चराचर जगत्—चतुर्दश-भुवनके साथ ही स्वयं सर्वाकर्षक भगवान् श्रीकृष्णके चित्तको भी आकर्षित करता है। उन नराकृति परब्रह्मके नर-विग्रहके असमोर्ध्व सौन्दर्य, माधुर्य, वैचित्र्य और वैदग्ध्यादि गुणोंका वर्णन करते हुए उसमें चार प्रकारकी विशेष माधुरीका नित्य वर्तमान रहना बतलाया गया है। वे हैं—रूप-माधुरी, वेणु-माधुरी, प्रेम-माधुरी और लीला-माधुरी। यही माधुर्य-चतुष्टय श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णकी विशेषता है।

स्वयं लीला-विस्तार करके इस माधुर्य-स्वरूपका विस्तार करना ही प्रेमी भक्तोंके मनमें श्रीकृष्णके आविर्भावका एकमात्र मुख्य कारण है। इस लीलामें भगवान् गोपवेश, वेणुकर, नवकिशोर नटवररूपमें लीलायमान रहते हैं। यही मधुरलीला-तत्त्व है। भगवान्के स्वयंरूप अवतारमें इसकी प्रधानता होनेके कारण ही वे कंसके कारागारमें ऐश्वर्यमय चतुर्भुज देवरूपमें प्रकट होकर तुरंत ही द्विभुज बालरूपमें बदल गये और वसुदेवको प्रेरित करके मधुर लीलानन्दका रसास्वादन करने-कराने मधुर व्रजमें पधार गये।

श्रीकृष्ण-माधुर्यके पूर्णतम प्रकाशका क्षेत्र एकमात्र व्रज ही है। वहाँ ऐश्वर्य सर्वथा छिपा रहता है। कहीं प्रकट होता है तो माधुर्यकी सेवाके लिये ही। व्रजमें ही विशुद्ध ममतायुक्त, किंतु स्वसुखवाञ्छाविहीन प्रेम-माधुर्यकी सरिता बहती है। भगवान्के तीन रूप हैं—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्। ब्रह्म निश्चय ही आनन्दस्वरूप है, ब्रह्ममें शक्तिकी अभिव्यक्ति नहीं है। अन्तर्यामी परमात्मामें चिच्छक्तिका आंशिक विकास है, अतएव ह्लादिनी शक्तिका भी अस्तित्व अभिव्यक्त है; पर वह बहुत सूक्ष्म परिमाणमें ही है। ऐश्वर्य-प्रधान भगवान्में शान्त भक्तको माधुर्यकी कुछ अनुभूति होती है, पर वह भगवदैश्वर्यज्ञानको छिपा नहीं सकती। व्रजके गोपीवल्लभ भगवान् श्रीकृष्णमें पूर्ण माधुर्यका प्रकाश है। इसीसे यहाँ पूर्णतम माधुर्यास्वादनमें ऐश्वर्यादिका अनुभव सम्पूर्णरूपसे तिरोहित रहता है। यही विशुद्ध प्रेम है।

श्रुति कहती है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

(बृहदारण्यक उपनिषद् ५। १। १)

भगवत्-स्वरूप-तत्त्व नित्य, एक और परिपूर्णतम है। उसमें जीव तथा जड पदार्थोंकी भाँति न खण्डता

है, न अपूर्णता है, न परस्पर पृथक्ता या प्रतियोगिता ही है; तथापि अखिलरसामृतमूर्ति भगवान् श्रीकृष्ण माधुर्यके प्रकाशकी विशेषताके कारण व्रजमें पूर्णतम रसिकशेखर हैं।

शक्तिरैश्वर्यमाधुर्यकृपातेजोमुखा गुणाः।
शक्तेर्व्यक्तिस्तथाव्यक्तिस्तारतम्यस्य कारणम्॥

"ऐश्वर्य, माधुर्य, कृपा, तेज आदि गुणोंको 'शक्ति' कहते हैं। शक्तिकी न्यूनाधिक अभिव्यक्ति ही तारतम्यमें कारण है।"

इस व्रजधाममें भी प्रेमके तारतम्यके अनुसार माधुर्यके अनुभवमें भी तारतम्य रहता है। दास्य-रसके प्रेमकी अपेक्षा सख्य-रसके प्रेममें, सख्य-रसकी अपेक्षा वात्सल्यरसके प्रेममें और वात्सल्यरसकी अपेक्षा भी गोपाङ्गनाओंके माधुर्यानुभवमें उत्तरोत्तर विशेष उत्कर्ष है। गोपाङ्गनाओंमें भी महाभावस्वरूपा श्रीराधाका प्रेम तथा उनका माधुर्यानुभव सर्वापेक्षा अधिक और सर्वथा अतुलनीय है।

यहाँ भगवान् नित्यनवकिशोररूपसे श्रीगोपाङ्गनाओंके परममधुर दिव्यरसका आस्वादन करते हैं। श्रीगोपाङ्गनाओं-का प्रेम सर्वथा निरुपाधिक, निरावरण और विशुद्ध है। उसमें ऐश्वर्यज्ञान, धर्माधर्मज्ञान, भावोत्पादनके लिये रूप-गुणादिकी अपेक्षा, स्वसुखका अनुसंधान—यहाँतक कि रमण-रमणी-बोधकी भी अपेक्षा नहीं है। यह रमण-रमणी-बोध मधुररस मात्रका या कान्ता भावका जीवन-स्वरूप है। इसके बिना उस जीवनमें कोई सार ही नहीं समझा जाता। परंतु श्रीराधामुख्या गोपाङ्गनाओंके विशुद्ध प्रेममें इसकी भी कोई अपेक्षा या सार्थकता नहीं है। महाभाग्यवती श्रीकृष्णप्रिया परमसती गोपाङ्गनाएँ नित्य विशुद्ध प्रेम-सुधा-रसके उमड़े हुए सागरके प्लावनमें सर्वथा निमग्न हैं। वे एकमात्र प्रियतम-सुखके अतिरिक्त सर्व-विस्मृत हैं। उनकी सम्पूर्ण गति-विधि, सारी चेष्टा-क्रिया एकमात्र श्रीकृष्णसुखमय अनुरागकी ही अभिव्यक्ति है। श्रीराधा इन सबकी मूल उत्स-स्वरूपा प्रेम-पराकाष्ठा महाभावमयी हैं। इस महाभावके साथ रसराजका—श्रीराधाके साथ श्रीमाधवका नित्य परमोज्ज्वल रसोल्लास ही व्रजकी अमूल्य तथा अतुल परमार्थ-निधि है।

इस व्रजमें भी 'हतारि-गति-दायक' भगवान्की असुर-वध-लीला होती है। परंतु उस लीलाका प्रभाव व्रजवासी प्रेमियोंके मनपर ऐश्वर्यकी छाया नहीं ला सकता। वे उसमें अपने प्रिय श्रीकृष्णके किसी ऐश्वर्यका अनुभव नहीं करते, बल्कि उससे श्रीकृष्णके प्रति उनका सहज प्यार-दुलार और भी बढ़ता है।

आज इस परम माधुर्यावतारका मङ्गल दिवस है। जिन लोगोंको पञ्चम पुरुषार्थ भगवत्प्रेमकी प्राप्तिकी इच्छा हो, उन्हें भगवान्के इस मधुर स्वरूपकी उपासना करनी चाहिये।

व्रजके बाद भगवान्की ऐश्वर्यलीलाका क्रमशः विशेष प्रकाश होता है और मथुरा-द्वारकामें असुरोद्धारकी लीला चलती है। वहाँ भी माधुर्य छिपे-छिपे अपना प्रभाव अक्षुण्ण रखता है। इसीसे रणाङ्गणमें कही हुई भगवान्की गीतामें भी माधुर्यकी प्रत्यक्ष ज्योत्स्ना दिखायी देती है—

'प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥' (गीता ११।४४)

सारी मथुरा-लीला और द्वारका-लीलामें यत्र-तत्र माधुर्यके बड़े विलक्षण दर्शन होते हैं, पर साथ ही वहाँ निष्कामभावकी महत्ताके साथ भगवान् अपने आदर्श चरित्रके द्वारा लोकसंग्रहकी लीला प्रधानरूपसे करते हैं। इस लीलामें स्वयं-भगवान्के साथ ही कहीं-कहीं उन्हींमें रहकर लीला करनेवाले ऐश्वर्यस्वरूपोंकी प्रधानता होती है।

यहाँ भगवान् निरीह प्रजाको दुराचारी राजाओंसे छुटकारा दिलाते हैं—कंस, शिशुपाल, जरासंध, शाल्व, नरकासुर, वाणासुर आदि असंख्य आसुरभावापन्न

राजाओंका दमन करते हैं, पर स्वयं कहीं भी राज्य ग्रहण न करके निष्कामभावका प्रत्यक्ष प्रमाण उपस्थित करते हैं।

जबतक संसारमें धर्मभीरु, श्रद्धासम्पन्न, भगवद्-विश्वासी, भोगोंमें अनासक्त, सर्वभूतहिताकाङ्क्षी, सदाचारपरायण, असंग्रही मनुष्योंकी संख्या अधिक रहती है, जबतक मनुष्यमें कर्तव्यपरायणता और त्यागवृत्तिकी प्रधानता रहती है, तबतक सुख-शान्ति रहती है। मानवकी जीवनयात्रा अपने परम लक्ष्य भगवान्‌की ओर चलती है, परस्पर सुख पहुँचाने तथा हित करनेकी भावनासे ही सारे कार्य होते हैं—इससे प्रेमकी वृद्धि होती है। पर जब मनुष्य कामोप-भोगपरायण होकर शास्त्रवर्जित, संयमहीन स्वेच्छाचार करने तथा धर्मकी मर्यादाको नष्ट करने लगता है, त्यागके स्थानपर अर्थ-लालसा तथा भोग-लालसा एवं कर्तव्यके स्थानपर अधिकार-लोलुपता छा जाती है, सहिष्णुताके स्थानपर प्रतिशोधकी भावना, निष्काम सेवाके स्थानपर तुच्छ स्वार्थपरता, संयमके स्थानपर पशुवत् आचार आ जाता है तथा पर-सेवा एवं परहितके स्थानपर परपीडन एवं दुर्बलोंपर अत्याचार होने लगते हैं, सत्यके स्थानपर असत्यका साम्राज्य हो जाता है, जिस किसी प्रकारसे परस्वापहरण ही मनुष्यके स्वभावगत हो जाता है, तब मनुष्यकी सर्वथा अधोमुखी भोग-प्रवृत्ति हो जाती है; वह मनुष्यके रूपमें ही पशु-पिशाच-राक्षस बन जाता है और सर्वत्र अशान्ति तथा दुःखकी प्रबल धारा बहने लगती है। ऐसे दुस्समयमें यदि उस देशमें भगवद्विश्वासी भक्त होते हैं तो वे भगवान्‌को पुकारते हैं और उनका करुण आर्तस्वर सुनकर दयासिन्धु भगवान् उनका दुःख दूर करनेके लिये अवतरित होते हैं।

द्वापरमें यही स्थिति हो गयी थी। कंस-जरासंध आदि आसुरभावापन्न प्रभावशाली राजाओंके दुर्दमनीय शासनसे धर्मभीरु प्रजा पीड़ित और अत्यन्त दुःखी हो रही थी और आसुरभावोंका प्रबलताके साथ विस्तार हो रहा था। लोग लौकिक दुःखोंके साथ ही साधनाके क्षेत्रमें भी अत्यन्त दुःखी थे। उनके पास साधनमार्गको सुरक्षित रखने, शान्तचित्तसे साधन करने, जप-तप-कीर्तनादि साधना करनेकी सारी सुविधाएँ छीन ली गयी थीं। वे जबर्दस्ती साधनासे वञ्चित रखे जाते थे। देवमाता गौ तथा वर्णप्रधान ब्राह्मण अत्यन्त दुःखी थे। इसी समय भगवान्‌के विश्वासी भक्तोंने आर्त पुकार की और भगवान्‌ने प्रकट होकर सबका दुःख-निवारण किया। इस प्रकार जो भगवान्‌का स्वरूप ऐश्वर्य-प्रधान मानते हैं, वे अपने भावानुसार सेवक-भावसे उन जगत्पिता, सबके माता-धाता, पितामह, सर्वशरण्य, दयासिन्धु, करुणासागर, अहैतुक प्रेमी, परम सुहृद् भगवान्‌की उपासना करके अपने लौकिक तथा साधना-सम्बन्धी दुःखोंको हटायें।

जो लोग भगवान् श्रीकृष्णको भगवान्‌का अवतार न मानकर परम योगेश्वर, ब्रह्मप्राप्त महात्मा, आदर्श लोकसंग्रही और सर्वगुणसम्पन्न महामानव मानते हैं, उनके लिये भी आजका यह भाद्रपदकृष्ण अष्टमीका दिवस महान् मङ्गलमय एवं आदरणीय है। विश्वके इतिहासमें सर्वगुणसम्पन्न, सभी क्षेत्रोंमें अपनी आदर्श गुणावलियोंके द्वारा प्रकाश तथा शक्तिका विस्तार करनेवाले श्रीकृष्णके सदृश कोई महापुरुष कभी प्रकट ही नहीं हुए। ऐसे महामानवके मङ्गलमय प्राकट्य-दिवसपर सभीको आनन्द—परमानन्दमें मग्न होकर उनके मधुर, मनोहर, सर्वकल्याणमय नाम-गुणोंका स्मरण करना चाहिये और उनके आदर्श एवं आदेशके अनुसार अपना जीवन बनाकर मानवताको सफल करना चाहिये।

जय नँदनन्दन, जय गोपाल ! जय मुरलीधर नयन-विशाल !!
राधा-मानस मञ्जु मराल ! जय वसुदेव-देवकी-लाल !!

गीताका ज्ञानयोग—१

[श्रीमद्भगवद्गीताके तेरहवें और चौदहवें अध्यायोंकी विस्तृत व्याख्या]

(स्वामी रामसुखदास)

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥

सम्बन्ध

बारहवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णसे पूछते हैं कि 'आपके व्यक्त (सगुण) और अव्यक्त (निर्गुण) स्वरूपके उपासकोंमें कौन श्रेष्ठ है ?' इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान् अपने सगुण स्वरूपके उपासकोंको श्रेष्ठ बतलाते हैं और आगे कहते हैं कि 'निर्गुणोपासक भी मुझे ही प्राप्त होते हैं, किंतु देहाभिमान रहनेके कारण उन्हें उपासनामें क्लेश अधिकतर होता है ।' यद्यपि दोनों प्रकारकी उपासनाओंके फलमें तो भेद नहीं है, किंतु अपने परायण सगुणोपासकोंके लिये भगवान् कहते हैं—'मुझमें चित्त लगाये रखनेवाले उन भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्यु-संसार-सागरसे उद्धार करनेवाला होता हूँ ।' फिर सगुणोपासनाका विस्तारसे वर्णन करते हुए उस अध्यायका उपसंहार कर देते हैं । अब निर्गुण-उपासना-का विस्तारसे वर्णन करनेके लिये एवं उस उपासनामें देहाभिमानरूपी प्रधान बाधाको दूर करनेके हेतु इस तेरहवें अध्यायका आरम्भ करते हैं, जिसमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-के विभागका, सगुण और निर्गुण स्वरूपकी एकताका तथा प्रकृति-पुरुषके विभागका स्पष्ट रूपसे वर्णन करते हैं । इस अध्यायके परिशिष्ट विषयका ही प्रकारान्तरसे अर्थात् प्रकृतिका, उसके कार्यभूत गुणोंका एवं देहीके नामसे पुरुषका चौदहवें अध्यायके बीसवें श्लोकतक प्रतिपादन करते हैं । अतः तेरहवें अध्यायके ३४ श्लोक और चौदहवेंके २० श्लोक—कुल ५४ श्लोकोंका यह एक प्रकरण है । इस प्रकरणको हम 'गीताका ज्ञानयोग, कह सकते हैं ।

जैसे स्वभावसे ही मनुष्य सम्पूर्ण संसारको इदंतासे देखता है, अर्थात् अपनेसे पृथक् जानता-मानता है, उसी प्रकार वह आत्मीय माने जानेवाले शरीरको भी इदंतासे देखे—अपनेसे पृथक् जाने, इस भावको प्रकाशमें लाने एवं क्षेत्रज्ञ (आत्मा) की परमात्मामें अभिन्न भावसे स्थितिका अनुभव करानेके लिये भगवान् प्रारम्भके दो श्लोक प्रस्तुत कर रहे हैं—

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ १॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥ २॥

भावार्थ—

श्रीभगवान् बोले—कुन्तीनन्दन ! मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदि सहित जो स्थूल शरीर देखनेमें आता है, यह 'क्षेत्र' कहा जाता है [अर्थात् क्षेत्र परिवर्तनशील, क्षयिष्णु (क्षीण होनेवाला) एवं नाशवान् है ।] इस क्षेत्रको जो जानता है, उसे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके तत्त्वको जाननेवाले महापुरुष 'क्षेत्रज्ञ'के नामसे कहते हैं और हे भरतवंशोद्भव (भरतवंशमें उत्पन्न) ! सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें जो क्षेत्रज्ञ है, उसे भी मुझे ही जान—मेरा ही स्वरूप समझ अर्थात् वह क्षेत्रज्ञ मुझसे भिन्न नहीं है । इस प्रकार मुझसे अभिन्न क्षेत्रज्ञ और उससे भिन्न क्षेत्र—इन दोनोंका जो ज्ञान है, वही मेरे मतमें ज्ञान है । (तात्पर्य यह कि सम्पूर्ण नाशवान् पदार्थोंसे विमुख होकर एक सच्चिदानन्दघन परमात्मामें अभिन्नभावसे स्थित होना ही 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका वास्तविक ज्ञान' है) ॥ १-२ ॥

अन्वय—

कौन्तेय, इदम्, शरीरम्, क्षेत्रम्, इति, अभिधीयते ।

यः, एतत् (क्षेत्रम्), वेत्ति, तम्, तद्विदः, क्षेत्रज्ञ इति, प्राहुः । च, भारत, सर्वक्षेत्रेषु, क्षेत्रज्ञम्, अपि, माम्, विद्धि, यत्, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोः, ज्ञानम्, तत्, ज्ञानम्, मम, मतम् ।

कौन्तेय !—कुन्तीनन्दन ! (कुन्ती भगवान् श्रीकृष्णकी बुआ थीं) अपने इस सम्बन्धको लेकर भगवान्‌द्वारा किये गये इस सम्बोधनमें कुन्तीपुत्र अर्जुनके प्रति उनकी आत्मीयता झलकती है । भगवान्‌ने गीतामें चौवीस बार इस सम्बोधनका प्रयोग किया है । अतः अर्जुनके प्रति आये हुए समस्त सम्बोधनोंमें इसका दूसरा स्थान है ।

'इदम् शरीरम् क्षेत्रम् इति अभिधीयते'—यह शरीर क्षेत्र है, ऐसा कहा जाता है ।

इस श्लोकमें आये हुए—**'इदम् शरीरम् क्षेत्रम्'**—ये मूल पद निर्गुण उपासनामें देहाभिमानको मिटानेके लिये प्रयुक्त हुए हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि इन पदोंके भावको हृदयंगम करानेके लिये ही यह सम्पूर्ण अध्याय कहा गया है ।

भगवान्‌ने शरीरमात्रको 'क्षेत्र' कहा है, जो कि प्रकृति और प्रकृतिके कार्यभूत चौबीस तत्त्वोंसे निर्मित है और जिसका प्रतिक्षण क्षय होता रहता है । किंतु यहाँ इन पदोंको विशेषतासे लक्ष्य करनेपर पता लगता है कि देवयोनिमें भोगोंकी बहुलताके कारण, नारकीय योनियोंमें अत्यधिक यातनाओंके कारण, मनुष्य-शरीरके अतिरिक्त पशु-पक्षी आदि चौरासी लाख योनियोंमें केवल सुख-दुःखरूपी फलभोग होनेके कारण, ऐसा विवेक नहीं है, जिससे कि वे शरीरका 'इदम्' रूपसे अर्थात् अपनेसे पृथक् रूपसे अनुभव कर सकें । केवल मनुष्य-शरीरमें ही ऐसा भगवत्-प्रदत्त विवेक है, जिससे कि वह जैसे सम्पूर्ण संसारको 'इदंता'से देखता है, वैसे ही 'आत्मीय' कहे जानेवाले शरीरको भी 'इदंता'से देख सकता है और अपना कल्याण कर सकता है । इसीसे कहा जाता है कि 'भगवत्प्राप्तिमें मनुष्यमात्रका जन्मसिद्ध अधिकार है ।' अतः समस्त शरीरोंको 'क्षेत्र' कहनेपर भी भगवान् वास्तवमें यहाँ मनुष्य-शरीरको ही 'क्षेत्र' कहना चाहते हैं, यह भाव प्रकट होता है ।

प्रत्येक मनुष्यका अपने शरीरमें अहंता-ममता करनेसे ही शरीर एवं शरीरसे सम्बन्धित संसारमें बन्धन होता है; अन्यत्र नहीं । मनुष्य-शरीरमें ही अहंकारपूर्वक किये हुए शुभ-अशुभ कर्मोंका सुख-दुःखरूपी फलभोग अन्य शरीरोंमें प्राप्त होता है । अतः समस्त शरीर क्षेत्र (खेत) होते हुए भी केवल मनुष्य-शरीरको ही वास्तवमें खेत (उपजाऊ भूमि) कहा जा सकता है ।

यह एक नियम है कि जहाँसे बन्धन होता है, उस स्थानसे खोलनेपर ही बन्धनसे छुटकारा हो सकता है । ऊपर बतलाया गया है कि मनुष्य-शरीरसे ही बन्धन होता है, अतः उक्त नियमके अनुसार मनुष्य-शरीरद्वारा ही बन्धनसे मुक्ति हो सकती है । यदि मनुष्यका अपने शरीरके साथ किसी प्रकारका भी अहंता-ममतारूपी सम्बन्ध न रहे तो वह समस्त संसारसे मुक्त है ही । अतः यहाँ उक्त पदोंद्वारा भगवान् मनुष्यमात्रके 'अपने' माने हुए शरीरके साथ अहंता-ममतारूपी सम्बन्धको मिटानेके हेतु शरीरको 'क्षेत्र' कहकर उसे 'इदंता' (पृथक्ता)से देखनेके लिये कह रहे हैं, जो कि वस्तुतः पृथक् है ही । अतः निर्गुण उपासकको इन पदोंपर विशेष ध्यान देना चाहिये ।

शरीरको इदंतासे देखना केवल निर्गुण-उपासकोंके लिये ही आवश्यक नहीं है, अपितु अपना कल्याण चाहनेवाले समस्त साधकोंके लिये वह परम आवश्यक प्रतीत होता है । यही कारण है कि भक्तिप्रधान कर्मयोगके अधिकारी अर्जुनके प्रति भी गीताका उपदेश आरम्भ करते ही भगवान्‌ने सबसे पहले शरीर और शरीरी—देह और देही (देहधारी आत्मा) की पृथक्ताका वर्णन किया है ।

'इदम्'का अर्थ है—यह (दृश्य) अर्थात् अपनेसे पृथक् देखा जानेवाला ।

सर्वप्रथम देखनेमें आता है यह पाञ्चभौतिक कलेवर अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाशसे बना पिण्डरूप स्थूल शरीर । यह दृश्य है और परिवर्तन-शील है । इसको देखनेवाले हैं—नेत्र । जैसे दृश्यमें रंग, आकृति, अवस्था और उपयोग आदि सभी बदलते रहते हैं, किंतु देखनेवाले नेत्र एक ही रहते हैं, वैसे ही शब्द, स्पर्श, रस और गन्धरूप विषय भी बदलते रहते हैं, किंतु उनको जाननेवाले कान, त्वचा, जिह्वा और नासिका एक ही रहते हैं । जैसे नेत्रोंसे ठीक दीखना, मन्द दीखना और बिल्कुल न दीखना—ये नेत्रमें होनेवाले परिवर्तन मनके द्वारा जाने जाते हैं, वैसे ही कान, त्वचा, जिह्वा और नासिकामें होनेवाले परिवर्तन भी मनके द्वारा जाने जाते हैं । अतः पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ (नेत्र, कान, त्वचा, जिह्वा और नासिका) भी दृश्य हैं । कभी क्षुब्ध, कभी शान्त, कभी स्थिर और कभी चञ्चल भाव आदि मनमें होनेवाले परिवर्तन बुद्धिके द्वारा जाने जाते हैं । अतः मन भी दृश्य है । कभी यथार्थ (ठीक) समझना, कभी कम समझना और कभी बिल्कुल न समझना—ये बुद्धिमें होनेवाले परिवर्तन स्वयं (जीवात्मा)के द्वारा जाने जाते हैं । अतः बुद्धि भी दृश्य है । बुद्धि आदिके द्रष्टा स्वयं (जीवात्मा)के स्वरूपमें कभी परिवर्तन हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं और सम्भव भी नहीं । वह सदा एकरस रहता है, अतः वह कभी भी किसीका दृश्य हो ही नहीं सकता ।

इन्द्रियाँ केवल अपने-अपने विषयको ही जान सकती हैं, किंतु विषय अपनेसे पर (सूक्ष्म और श्रेष्ठ) इन्द्रियको नहीं जान सकते । वैसे ही इन्द्रियाँ और विषय मनको नहीं जान सकते, मन, इन्द्रियाँ और विषय बुद्धिको नहीं जान सकते तथा बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ और विषय स्वयं (जीवात्मा)को नहीं जान सकते । न जाननेमें मुख्य कारण यह है कि इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि तो सापेक्ष द्रष्टा अर्थात् एक-एककी सहायतासे केवल अपनेसे स्थूल रूपको देखनेवाली हैं, किंतु स्वयं (जीवात्मा) शरीर, इन्द्रियों, मन और बुद्धिसे अत्यन्त सूक्ष्म और श्रेष्ठ होनेके कारण निरपेक्ष द्रष्टा है अर्थात् दूसरे किसीकी सहायताकी अपेक्षा न रखकर स्वयं ही देखनेवाला है ।

उपर्युक्त विवेचनमें यद्यपि इन्द्रियों, मन और बुद्धिको भी 'द्रष्टा' कहा गया है, किंतु वहाँ भी यह समझ लेना चाहिये कि स्वयं जीवात्माके साथ रहनेपर ही इनके द्वारा देखा जाना सम्भव होता है; क्योंकि बुद्धि, मन आदि जड प्रकृतिके कार्य होनेके कारण स्वयं स्वतन्त्र द्रष्टा नहीं हो सकते । अतः स्वयं (जीवात्मा) ही वास्तविक द्रष्टा है । यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि 'स्वयं (जीवात्मा) तो चेतन है, फिर वह अपनेसे विजातीय जड पदार्थ बुद्धि आदिको कैसे देखता या जानता है ? क्योंकि यह नियम है कि देखना अथवा जानना केवल सजातीयतामें ही सम्भव होता है अर्थात् दृश्य, दर्शन और द्रष्टा अथवा ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञाताके एक ही जातिके होनेसे देखना अथवा जानना होता है, अन्यत्र नहीं ।' इस नियमसे यह पता लगता है कि स्वयं (जीवात्मा) जबतक बुद्धि आदिका द्रष्टा रहता है, तबतक उसमें बुद्धिकी जातिकी जडवस्तु है अर्थात् जडप्रकृतिके साथ उसका माना हुआ सम्बन्ध है । यह माना हुआ सम्बन्ध ही सब अनर्थोंका मूल है । इसी माने हुए सम्बन्धके कारण वह सम्पूर्ण जड प्रकृति अर्थात् बुद्धि, मन, इन्द्रियों, विषय, शरीर और पदार्थोंका द्रष्टा बनता है ।

क्षेत्र (जड प्रकृति)के साथ माने हुए सम्बन्धके कारण स्वयं अपने वास्तविक स्वरूपको भूलकर प्रकृतिके कार्य शरीरादिको 'मैं', 'मेरा' और 'मेरे लिये' मानता है तथा नाशवान् जड पदार्थोंकी इच्छा रखकर उन्हींसे सुख पानेकी चेष्टा करता है; किंतु स्वयं अविनाशी, चेतन होनेके कारण उन विनाशी और जड पदार्थोंसे वह कभी भी सर्वथा सुखी हो ही नहीं सकता; इसलिये सदैव दुःखोंको भोगता रहता है। दुःखोंसे छुटकारा दिलानेके लिये भगवान् 'इदम् शरीरम् क्षेत्रम्'-- इन तीन पदोंका प्रयोग करके शरीरादि क्षेत्रको इदंतासे देखने अर्थात् अपनेसे पृथक् जाननेके लिये कह रहे हैं। वस्तुतः वह अपनेसे पृथक् है ही। शरीरादिको अपनेसे पृथक् देखनेपर दुःखोंका अभाव तो हो जाता है, किंतु शरीरादिकी ओर दृष्टि रहनेसे साक्षीपनका सूक्ष्म व्यक्तित्व (अभिमान) बना रहता है। यह सूक्ष्म अभिमान अपने वास्तविक स्वरूप अर्थात् परमात्मतत्त्वकी ओर दृष्टि होनेसे ही मिटता है। परमात्मतत्त्वकी ओर दृष्टि होते ही वह प्रकृतिसे विमुख हो जाता है अर्थात् उसके प्रकृतिके साथ माने हुए सम्बन्धका विच्छेद हो जाता है और तब वह परमात्मामें अपनी वास्तविक अभिन्न स्थितिका अनुभव करता है। उस अभिन्न स्थितिके अनुभव करनेकी बात अगले श्लोकमें भगवान् 'सर्वक्षेत्रेषु क्षेत्रज्ञमपि माम् विद्धि' पदोंद्वारा वर्णन कर रहे हैं। ऐसी अभिन्न स्थितिका अनुभव होनेपर जीवात्मा कभी, किसी प्रकार और किंचिन्मात्र भी दुःखी नहीं हो सकता।

'इदम् शरीरम् क्षेत्रम्'—इन पदोंको पढ़कर साधक शरीरादिको तो अपनेसे पृथक् मान लेता है, किंतु शरीरमें इन्द्रियोंद्वारा होनेवाली खाना, पीना, सोना, देखना, सुनना आदि क्रियाओंको, मनसे होनेवाले चिन्तनको और बुद्धिसे होनेवाले निश्चयको अपनी क्रिया मानता रहता है। इधर ध्यान ही नहीं देता कि जब शरीरादि सभी दृश्य हैं तो फिर इनसे होनेवाली क्रियाएँ भी तो दृश्य ही हैं। वे दृश्यमें ही हैं, स्वयंमें कहाँ हैं ?

वस्तुतः जैसे समष्टि-शक्तिसे संसारकी सम्पूर्ण क्रियाएँ होती हैं, उसी तरह व्यष्टिगत क्रियाएँ भी समष्टि-शक्तिसे ही हो रही हैं। किंतु अज्ञानके कारण उन व्यष्टिगत क्रियाओंमेंसे कुछ क्रियाओं—खाना-पीना, देखना-सुनना आदिको, जो कि बुद्धिपूर्वक होती हैं, वह अपनी क्रिया मान लेता है एवं कुछ क्रियाओं—बालकसे जवान होना, श्वासका आना-जाना, भोजनका पचना आदिको अपनी न मानकर स्वाभाविक होनेवाली क्रिया मानता है; जब कि दोनों ही प्रकारकी क्रियाएँ दृश्यमें ही हो रही हैं एवं दृश्य ही हैं। भगवान् 'इदम् शरीरम् क्षेत्रम्'--पदोंसे इस बातकी ओर लक्ष्य करा रहे हैं कि क्षेत्र, शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि एवं इनके द्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाएँ 'इदम्' अर्थात् दृश्य ही हैं तथा वे स्वयं इनसे सर्वथा निर्लिप्त, असम्बद्ध और पृथक् हैं।

'शरीरम्' पदके अन्तर्गत तीनों शरीरोंको समझना चाहिये—(१) स्थूल-शरीर, जो पञ्चभूतनिर्मित है, जिसे स्थूल दृष्टिसे 'शरीर' कहते हैं, (२) सूक्ष्म-शरीर, जो बुद्धि, मन, दस इन्द्रियों और पाँच प्राणोंका समुदाय है और (३) अज्ञानरूप कारण शरीर, जिसमें स्वभावकी ही मुख्यता है।

मानवके स्थूल-शरीरसे कर्म बनते हैं, सूक्ष्म-शरीरमें उन कर्मोंके संस्कार पड़ते हैं और कारण-शरीरमें अज्ञानके कारण उन कर्मोंके कर्तापनका अभिमान रहता है। जिस प्रकार खेतमें बोये हुए बीजोंके उनके अनुरूप फल समयपर प्रकट होते हैं, वैसे ही इस मानव-शरीरसे अहंकारपूर्वक किये हुए कर्मोंके संस्काररूप बीजोंके फल अन्य शरीरोंमें अथवा इसी

शरीरमें समयपर प्रकट होते हैं; अतः सभी योनियोंके शरीर खेत (क्षेत्र) कोटिमें होते हुए भी वास्तवमें मानव-शरीर ही 'खेत' कहलानेयोग्य है, अन्य नहीं।

क्षेत्रज्ञ मानव-शरीरमें अहंता-ममता करके शरीरके साथ दो प्रकारसे सम्बन्ध जोड़ता है— (१) 'शरीर मैं हूँ' और (२) 'शरीर मेरा है'।

'शरीर मैं हूँ'—इस प्रकारका सम्बन्ध जोड़नेसे शरीरके नाश आदिका भय अपने ही नाश आदिका भय हो जाता है और 'शरीर मेरा है'—ऐसा सम्बन्ध जोड़नेसे शरीरके लिये रोटी-कपड़ेकी आवश्यकता अपने ही लिये उन वस्तुओंकी आवश्यकता प्रतीत होने लगती है। इस 'मैं' तथा 'मेरेपन'को मिटानेका अवसर मानव-शरीरके सिवा अन्य शरीरोंमें नहीं है। अतः मानवको सजग करते हुए भगवान् इन पदोंद्वारा कह रहे हैं कि "ये शरीरादि 'क्षेत्र' तुमसे पृथक् हैं। इस प्रकार पृथक्ताका अनुभव करनेसे अहंता-ममता सर्वथा मिट जाती है, जो केवल मानी हुई है।" अतः साधकको चाहिये कि वह शरीरको जितना-जितना पृथक् समझे, उसपर अपनी पूरी शक्ति लगाकर दृढ़तासे स्थित रहे अर्थात् शरीरको कभी 'मैं' और 'मेरा' न माने। इस प्रकार दृढ़ता रहनेपर क्षेत्रसे अपनी पृथक्ताका अनुभव हो जाता है।

ज्ञानमार्गमें दो प्रकारसे साधना होती है—(१) स्वरूपके चिन्तनसे और (२) जड़ताके त्यागसे। शास्त्रोंमें भी विधिमुख और निषेधमुख—दोनों ही तरहकी साधन-प्रणालियोंका वर्णन है। दोनों ही प्रणालियाँ साधकोंकी अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार उनके लिये श्रेष्ठ और सुगम हैं।

जैसे गीता अध्याय ६, श्लोक १८—२० तक विधिमुखसे अर्थात् परमात्मामें चित्त लगनेसे एवं गीता अ० २, श्लोक ५५ में निषेधमुखसे अर्थात् जड़ता (कामना) के त्यागसे सच्चिदानन्दघन परमात्माकी प्राप्तिका वर्णन हुआ है—वहाँ भी गम्भीरतापूर्वक विचार करनेसे प्रतीत होता है कि विधिमार्ग—ध्यानयोग-में परमात्मामें चित्त लगनेपर भी चित्तसे सम्बन्ध बना ही हुआ है। जब चित्तसे उपरति होती है, तब तत्त्वका अनुभव होता है; किंतु निषेधमार्गमें कामनाका सर्वथा अभाव होते ही तत्त्वका अनुभव हो जाता है। अव्यक्तकी उपासनामें यहाँ 'इदम् शरीरम् क्षेत्रम्' पदोंसे भी भगवान् जड़ताके त्यागकी ही बात कह रहे हैं।

तत्त्वकी अनुभूतिके हेतु साधकके लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसकी दृष्टि सदैव क्षेत्रमें प्रतिक्षण होनेवाले परिवर्तन और नाशपर लगी रहे। ऐसी दृष्टि बनी रहनेपर क्षेत्रसे पृथक्ताका अनुभव होकर अपरिवर्तनशील अव्यक्त-स्वरूपमें अपनी स्थिति स्वतः होती है; क्योंकि यह नियम है कि परिवर्तनमात्रको जो इदंता (पृथक्ता) से देखता है, उसकी अपरिवर्तनमें स्थिति स्वतः है ही। इसीलिये भगवान् परिवर्तनशील और विनाशी क्षेत्रको इन पदोंद्वारा इदंतासे देखनेके लिये कह रहे हैं।

व्यक्त (शरीर) से इतना तादात्म्य हो गया है कि इसको अपनेसे पृथक् कहने-सुननेपर भी इसके साथ अपनी एकता ही प्रतीत होती है। अतः क्या उपाय किया जाय, जिससे इसका अपनेसे पृथग्भाव अनुभवमें आने लग जाय ?

स्वयं (जीवात्मा) को सुगमतापूर्वक शरीरादि क्षेत्रसे पृथक्ताका अनुभव करानेके लिये भगवान्ने यहाँ 'इदम् शरीरम्'—इन पदोंसे समझाया है कि 'शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—सभी दृश्य होनेसे जाननेमें आते हैं—इदंतासे कहे जाते हैं, किंतु इन्हें जाननेवाला क्षेत्रज्ञ 'अहम्' है। यह नियम है कि 'इदम्' कभी भी 'अहम्' नहीं हो सकता

अर्थात् जाननेमें आनेवाले दृश्यसे जाननेवाला द्रष्टा पृथक् होता ही है; कभी भी वे दोनों एक नहीं हो सकते। भाव यह है कि दृश्य और द्रष्टा भिन्न-भिन्न ही होते हैं। 'देहसे आत्मा पृथक् है'—ऐसा विवेक अस्पष्ट रूपसे प्रायः मनुष्यमात्रमें है। भगवान् इन पदोंद्वारा इसी विवेकको पूरी तरहसे जाग्रत् करनेके लिये कह रहे हैं।

साधकोंसे प्रायः यही बड़ी भूल होती है कि सुनते, पढ़ते और विचार करते समय वे जिस बातको ठीक समझते हैं, उसपर भी दृढ़तासे स्थित नहीं रहते तथा उसे विशेष महत्त्व नहीं देते। इस असावधानीके कारण ही वे अपने मार्गमें आगे नहीं बढ़ पाते। अतः अपने लक्ष्यकी ओर शीघ्रतापूर्वक अग्रसर होनेके लिये साधकोंको चाहिये कि वे पढ़ने, सुनने और विचार करनेपर जब यह जान लें कि 'शरीरसे आत्मा पृथक् है', तब इस बातपर दृढ़तासे स्थित रहें। अपनी इस जानकारीको विशेष महत्त्व देते हुए कभी किसी अवस्थामें भी 'शरीर मैं हूँ'—ऐसा न मानें। यदि किसी समय शरीरके साथ एकता दीख जाय तो भी उसका आदर न करें, उसे महत्त्व न दें एवं उस बातको सत्य मानें ही नहीं। बार-बार एकता दीखे तो भी उसकी उपेक्षा कर दें; क्योंकि जो वस्तु कभी भी भिन्न दीखती है, वह सदैव भिन्न ही होती है, केवल विवेककी कमीके कारण अभिन्न-सी दीख जाती है, अतः उसकी उपेक्षा कर देनेसे भिन्नताका अनुभव हो जाता है। यदि भूलसे पुनः 'शरीर मैं हूँ'—ऐसा मानता रहता है तो उसे केवल बौद्धिक ज्ञान हो सकता है, जिससे वह अन्यको समझा भी सकता है, किंतु स्वयंको तत्त्वका अनुभव नहीं होगा।

बहुत विशेष ध्यान देनेकी बात—अन्तःकरणमें धनादि पदार्थोंका महत्त्व और उनमें सुख-बुद्धि होनेसे एवं शरीरमें आराम-बुद्धिको पकड़ लेनेसे साधनाके आरम्भमें साधकको प्रायः ऐसी शङ्का हो जाया करती है कि 'सत्सङ्ग, भजन और ध्यानादिमें अधिक समय लगनेसे गृहस्थादिके व्यावहारिक कार्योंको करनेके लिये समय कम मिलेगा तो व्यवहारमें अवश्य बाधा आयेगी। साथ ही, धनादिकी प्राप्तिमें लगे हुए समयको ही सार्थक माननेवाले उसके परिवारके अन्य सदस्य एवं इष्ट-मित्र भी भजन-ध्यानादिमें लगनेवाले समयको बहुत बढ़िया न माननेके कारण कह देते हैं कि 'गृहस्थादिका काम सुचारु रूपसे करना चाहिये; अभी भजन-ध्यानादि करनेका समय नहीं है' आदि। ऐसी स्थितिमें भी साधककी कुछ रुचि भजन-ध्यानादिमें रहती है एवं वह पारमार्थिक कार्योंमें भी कुछ समय लगाता है; किंतु उसके अपने हृदयमें भी गृहस्थादिके पालनकी ही अधिक आवश्यकता प्रतीत होनेके कारण एवं परिवारके अन्य सदस्योंका भी गृहस्थादिके व्यवहारमें ही लगनेका अधिक आग्रह रहनेके कारण उसके हृदयमें एक द्वन्द्व मचता है कि 'मुझे क्या करना चाहिये?'

इतना ही नहीं, अपितु अपनी दृष्टिसे थोड़ी सूक्ष्मतासे विचार करनेपर उसे वही शङ्का सूक्ष्मरूपसे और भी वेगवती दिखायी देती है कि 'ज्ञानान्तरकाल अर्थात् परमात्माकी प्राप्तिके बाद किसी तरहकी कामना, स्पृहा, वासना आदि न रहनेसे उसकी प्रवृत्ति गृहस्थादि कार्योंमें होगी ही नहीं। आत्मस्वरूप या परमात्मतत्त्व ही सर्वत्र है तो फिर किसी प्रकारके भी कार्यकी क्या आवश्यकता है? अतः परमात्माकी प्राप्तिके बाद वह भी निर्जीव पत्थरकी तरह जडवत् हो जायगा।'

साधनाके आरम्भमें ऐसी शङ्का हो जानेसे साधकका हृदय कम्पित होता रहता है और वह अपने लिये सही मार्ग खोजना चाहता है। अतः उसके लिये यहाँ यों निवेदन किया जा रहा है—

शरीरादिसे अपनेको पृथक् जान लेनेपर शरीरादिका कोई नाश नहीं होता एवं जाननेवालेकी भी कोई हानि नहीं होती;

क्योंकि दोनों पहलेसे पृथक्-पृथक् तो थे ही। नाश होता है केवल अज्ञानका। वस्तु-स्थिति तो ज्यों-की-त्यों रहती है। ज्ञान केवल अज्ञानका विरोधी है न कि क्रियाओंके अनुष्ठानका। अज्ञान (भूल)के कारण शरीरादिके साथ एकता करके जीव दुःखोंको भोग रहा था, ज्ञान हो जानेसे वे अज्ञानके कार्यरूपी सम्पूर्ण दुःख मिट जाते हैं, अतः ज्ञानानन्तरकालमें केवल सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव होता है, न कि शारीरिक और व्यावहारिक क्रियाओंका। सच्ची बात तो यह है कि उस महापुरुषकी कहीं किंचिन्मात्र भी अहंता, ममता, राग, आसक्ति, स्वार्थ और अभिमान आदि न रहनेसे तथा प्राणिमात्रके हितमें प्रीतिका भाव रहनेसे उसके द्वारा धर्मयुक्त, न्याययुक्त और लोक-मर्यादाके अनुसार स्वतः आदर्शरूप क्रियाएँ होती हैं, जो संसारमात्रका कल्याण करनेवाली हैं।

(क्रमशः)

परब्रह्मोपलब्धि और योगमार्ग—२

(लेखक—डॉ० श्रीसर्वानन्दजी पाठक, एम्० ए०, पी-एच०डी० (द्वय), डी०लिट्०, काव्यतीर्थ, पुराणाचार्य)

[गताङ्क पृष्ठ ७८२ के आगे]

मनके अनन्तर प्रसङ्ग आता है बुद्धिका; क्योंकि बुद्धि तो मनसे उत्कृष्टतर एवं बलवती है। मन समस्त इन्द्रियोंसे प्रबल है और इन्द्रियाँ तो इतनी प्रभावशालिनी हैं कि जहाँ उन्हें मनका सहयोग मिला कि वे भयंकर-से-भयंकर अनर्थ कर डालनेसे नहीं चूकतीं। अतः सर्वप्रथम इन्द्रियदमन, तदुपरि मनोनिग्रह और इसके पश्चात् बुद्धिको सन्मार्गगामिनी बनानेपर सम्भव है—अध्यात्म-पथिककी अग्रगतिमें प्रकृति सुविधा देने लगे, पर पूर्णरूपसे बुद्धि सहायिका नहीं हो सकती; क्योंकि बुद्धि स्वयं भी आत्म-तत्त्वतक पहुँचनेमें असमर्थ है—आत्मा बुद्धिकी परिधिसे परे है। अपने विषयोंके सहित इन्द्रियसमूह, उसके अधिष्ठाता मन और परामर्शदात्री बुद्धि—ये तीनों साधन बलवान् होनेपर भी उस अचिन्तनीय तत्त्वतक जानेमें पङ्गु हैं[1]। पर क्रमिक साधनामें निरन्तर संलग्न रहनेपर प्रकृति पथ-प्रदर्शनमें सहायिका हो जाती है। प्रभुकी कृपा भाग्यशाली साधकपर अवश्यमेव होती है और साधक चरम लक्ष्यपर पहुँचकर—अपने जन्मको सफल बनाकर कृतकृत्य हो जाता है। जब अन्य कमनीय पदार्थोंके न होनेके कारण हृदयस्थित सम्पूर्ण कामनाएँ छूट जाती हैं, उस समय वह मरणधर्मा मानव-प्राणी अमर हो जाता है और इस शरीरसे ही ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है। जिस समय इस जीवनमें ही योगी साधकके हृदयकी सम्पूर्ण ग्रन्थियोंका छेदन हो जाता है, उसी समय यह मरणधर्मा अमर हो जाता है। बस, सम्पूर्ण वेदान्तोंका इतना ही अनुशासन—आदेश है। यही वेदान्तका चरम सिद्धान्त है।[2]

उपलब्धि

परम पदकी प्राप्ति या चरम लक्ष्यपर पहुँचनेके लिये साधारण साधन 'योग' है—'योग' उसे कहते हैं, जिसके साधनसे चित्तकी चञ्चल वृत्तियोंका निरोध हो जाय अर्थात् वे वृत्तियाँ प्रथम एक-बिन्दुपर, तदुपरि क्रमिक विकासके साथ 'शून्य'पर केन्द्रित होकर स्थिर हो जायँ, अन्यत्र कहीं कभी भी भटकने न पायें।[3]

हमारे परम कल्याणाकाङ्क्षी तत्त्वचिन्तक आचार्योंने आत्मोपलब्धिके लिये साधनाओंमें सर्वश्रेष्ठ यौगिक पथका निर्देश किया है। उन महर्षियोंने योगके अनेक प्रकार

---

१. इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥
(भगवद्गीता ३।४२)

२. यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥
यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्॥
(कठोपनिषद् २।३।१४-१५)

३. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। (पातञ्जलयोगदर्शन १।२)

निर्दिष्ट किये हैं। यथा—हठयोग, राजयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि। हठयोग शरीरको दृढ तथा शीतोष्णादि विषम परिस्थितियोंके सहनेयोग्य बनाकर साधनान्तरके लिये अवश्य अनुकूल कर देता है तथा उससे यह भी लाभ होता है कि राजयोगादि साधनाओंके लिये अभ्यासकर्ताके हृदयमें श्रद्धा और विश्वासका संचार हो जाता है। यद्यपि इससे, सम्भवतः चरम लक्ष्यकी प्राप्ति न हो, पर देश, काल और पात्रके दृष्टिकोणसे विचार करनेपर प्रतीत होता है कि इस भौतिक एवं अनैतिकतापूर्ण वातावरणमें हठयोगका अभ्यास हितकर नहीं है, क्योंकि इस समय साधनाकालमें विशुद्ध, पुष्टिकर तथा सात्त्विक आहारका मिलना सर्वथा असम्भव हो गया है। दुग्ध, घृत आदि गव्य पदार्थ इसके लिये आहाररूपसे आवश्यक और परमोपयोगी हैं। इनके अभावसे साधकमें शारीरिक और मानसिक दुर्बलता आ जाती है और वह हतोत्साह होकर साधनाको छोड़ बैठता है। राजयोगकी साधना भी वतमान युगके अनुकूल नहीं है। यह महर्षि पतञ्जलिके द्वारा निर्दिष्ट आठ अङ्गों—सोपानोंपर आधारित है।[४] इनमें भी प्रथम अङ्ग यम और द्वितीय अङ्ग नियममें प्रत्येकके पाँच-पाँच उपाङ्ग हैं। यथा—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये यमके उपाङ्ग हैं और शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान—ये नियमके उपाङ्ग हैं।[५] वर्तमान कालके सर्वथा विपरीत वातावरणमें अष्टाङ्गोंमेंसे एकपर भी आधीन तथा प्रतिष्ठित हो पाना सहज नहीं है। इनके सिवा इन उपाङ्गयुक्त यम और नियमोंके पश्चात् आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान—इन पाँच अङ्गोंका पालन अत्यन्त दुष्कर है। यम आदि सात सोपानोंपर सफलतापूर्वक आरोहण करनेके पश्चात् अन्तिम सोपान—समाधि-सिद्धि आती है। अतः देश, काल और पात्रकी प्रतिकूलतामें आज हठ या राजयोगादि साधनाओंकी उपयोगिता नहीं रह गयी है। सार्वत्रिक दृष्टियोंसे विचार करनेपर योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा प्रतिपादित भक्ति, कर्म और ज्ञानका आचरण ही वर्तमान युगके लिये उपयुक्त प्रतीत होता है। अब भक्ति, कर्म और ज्ञानका शाब्दिक विवेचन कर लेना उचित है। 'भज्' धातुसे 'क्तिन्' प्रत्ययके योगसे 'भक्ति' शब्द निष्पन्न होता है। अतः इसका शब्दार्थ होता है—भिन्नता, पृथक्ता आदि। करणार्थक 'कृ' धातुसे 'मनिन्' प्रत्यय होनेपर 'कर्मन्' शब्दकी सिद्धि होती है और तब इसका व्युत्पन्नार्थ होता है—शास्त्रविहित कार्य, क्रिया या आचरण आदि। क्र्यादिगणीय 'ज्ञा अवबोधने' धातुसे 'ल्युट्' प्रत्यय करनेपर ज्ञानशब्दकी सिद्धि होती है और तब इसका वाच्यार्थ होता है—सम्यक् बोध, पदार्थको ग्रहण करनेवाली मनकी वृत्ति अथवा आत्म-साक्षात्कार आदि।

अब सहज जिज्ञासा यह उत्पन्न होती है कि उपर्युक्त भक्तियोग, कर्मयोग और ज्ञानयोग—इन तीन अनुष्ठानोंमें किस एकका अवलम्बन सर्वाधिक श्रेयस्कर तथा सुलभ हो सकता है। भगवद्गीताके परिशीलन करनेसे ध्वनित होता है कि इन तीनोंमेंसे प्रत्येकका आचरण परस्परमें समान रूपसे सापेक्षता रखता है, प्रत्येक दूसरेका पूरक है। एकके अभावमें दूसरे दोनोंकी गति नहीं। एककी प्रतिष्ठा हो जानेपर अन्य दोनों उसी एक प्रतिष्ठित योगाचरणमें स्वतः समाविष्ट हो जाते हैं। भक्तियोगके आचरणमें कर्म तथा ज्ञान, दोनों योगोंका समागम स्वयं हो जाता है, कर्मयोगाचरणमें उसी प्रकार भक्ति तथा ज्ञान दोनों समुदित हो जाते हैं और ज्ञान-चिन्तनमें भी भक्ति तथा निष्काम कर्म प्रायः अपेक्षित ही रहते हैं अर्थात् एकके अभावमें अन्य दोनों अपूर्ण हो जाते हैं। नवधा भक्तिके उपासनाक्रममें अन्तिम आत्मनिवेदनरूप अद्वैत ज्ञान—भगवदेकाकारता ही तो सच्चा ज्ञान अथवा ब्रह्मोपलब्धि है। यदि समाहित चित्तसे विचार किया जाय तो ज्ञात होता है कि कोई भी प्राणी एक क्षणके लिये भी अकर्मा नहीं रहता; प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह भक्तिका आचरणकर्ता हो अथवा ज्ञानका चिन्तक, निरन्तर कर्म ही करता रहता है। कर्माचरणके बिना तो वह क्षणभर क्या, एक क्षणके शतांश कालमें भी अकर्मा होकर ठहर ही नहीं सकता। जैसे उठना-बैठना, खाना-पीना, सोना-जागना, चिन्तन-मनन करना, स्वप्न देखना, ध्यान करना, समाविष्ट होना आदि सब-के-सब व्यापार कर्मके ही अन्तर्गत हैं।[६] पुनः

---

४. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयो ऽष्टावङ्गानि। (योगदर्शन २। २९)

५. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। (योगदर्शन २। ३०, ३२)

६. न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
(भगवद्गीता ३। ५)

द्वैतभक्तिरूप निष्काम कर्मकी परिसमाप्तिके साथ ही अद्वैत ज्ञानका उदय हो जाता है। इस तरह देखा जाय तो प्रतीत होता है कि योगके तीनों मार्गों—भक्ति, कर्म और ज्ञान—में कोई एक दूसरे दोसे पृथक् ठहर नहीं सकता, अतः तारतम्यदृष्टिसे विचार करनेपर वर्तमान युगके साधारण व्यक्तिके लिये अनुकूल, सरल एवं सुलभ भक्तिमार्ग ही अवगत होता है। हम देख भी रहे हैं, शिक्षितवर्ग तो क्या, सामान्य अशिक्षित जन-समुदायकी बुद्धि भी जितनी सुगमता तथा स्वाभाविकतासे भक्ति-साधनाको ग्रहण कर लेती है, उतनी स्वाभाविकतासे वह कर्म और ज्ञानको ग्रहण नहीं करती।

भक्तियोग

तुलनात्मक बुद्धिसे विचार करनेपर शास्त्रोंमें भक्तिके प्रसङ्गमें प्रचुरतर विभूतियाँ लक्षित होती हैं। पद्मपुराण (उ० ९४) में भक्तिकी सर्वोत्कृष्टताके सम्बन्धमें भगवान् नारदसे कहते हैं—'मैं न तो वैकुण्ठमें निवास करता हूँ और न योगियोंके हृदयमें ही; जहाँ मेरे भक्त मेरा भक्तिपूर्वक गान करते हैं, मेरा वही सच्चा निवास है। उन मेरे भक्तोंका ही, मनुष्य जो गन्ध-पुष्पादिके द्वारा पूजनादि करते हैं और उस पूजनसे जो मुझे परितृप्ति होती है, वह साक्षात् मेरे पूजनसे भी नहीं होती। जो मेरी पुराण-कथाका श्रवण तो करते हैं, किंतु मेरे भक्तोंके गानकी निन्दा करते हैं, वे मूढ़ मेरे द्वेषी हैं।'[7] भक्ति-मार्गकी इतनी बड़ी महिमा बतलायी गयी है कि उसके अभावमें साधकके कायिक, मानसिक एवं वाचिक आदि कष्टसाध्य समस्त तपश्चरण, अपनी सम्पूर्ण सम्पत्तियोंका सत्पात्रोंमें सम्प्रदानरूपसे वितरण तथा साङ्गोपाङ्ग यज्ञानुष्ठान भी परम तत्त्व परमात्माके ज्ञान करानेमें समर्थ नहीं—वे सब-के-सब व्यापार व्यर्थ ही हैं।[8] साक्षात् भगवान् घोषणा करते हुए कहते हैं कि 'विविध यज्ञानुष्ठान, दान, तपस्या अथवा वेदादि सच्छास्त्रोंका स्वाध्याय—इत्यादि सदाचरणोंके द्वारा भी भक्तिपराङ्मुख साधक मेरा दर्शन पानेमें असमर्थ है।'[9]

केवल एक परमात्मा ही सर्वश्रेष्ठ हैं; वे ही मेरे सर्वस्व, परम आश्रय एवं माता-पिता, गुरु तथा हितकारी हैं; उनके अतिरिक्त मेरा और कोई नहीं है—ऐसा समझकर उनमें शुद्ध और निष्काम भावसे जो अपने-आपको समर्पित कर देता है, वह सत्त्व, रजस् और तमस्—इन तीनों गुणोंको सम्यक् प्रकारसे लाँघकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होनेके योग्य बन जाता है।[10] भगवान् केवल भक्तिसे ही प्रसन्न तथा प्राप्त होते हैं और भक्ति अकर्तृत्वबुद्धिसे होती है। भगवत्प्राप्तिके लिये भक्तिके अतिरिक्त और किसी कठोर या क्लेशकर तपस्या आदि साधनकी आवश्यकता नहीं है। भक्तियुक्त साधारण पत्र, पुष्प, जल आदिके समर्पण मात्रसे प्रभु प्राप्त होते हैं, किंतु भक्तिरहित बड़े-से-बड़े नैवेद्योंसे भी प्रभुको पाना असम्भव है।[11]

'जो अनन्य प्रेमीजन परमेश्वरका ही निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे उनको अपनी निर्मल भक्ति समर्पण करते हैं, उनको साधनके सच्चे मार्गपर स्थिर कर परम लक्ष्यपर पहुँचनेके लिये भगवान् आत्मनिर्भरता प्रदान कर देते हैं।'[12] भगवान्‌की अटल प्रतिज्ञा है—'जो साधक भगवान्‌में ही एकाग्र मन लगा देता है; एकमात्र उन्हींका भजन करता है, उन्हींका पूजन करता है तथा प्रणमन भी केवल उन्हींका करता है, वह निश्चय उन्हें ही प्राप्त हो जाता

---

७. नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न वै।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥
तेषां पूजादिकं गन्धपुष्पाद्यैः क्रियते नरैः।
तेन प्रीतिं परां यामि न तथा मत्प्रपूजनात्॥
मत्पुराणकथां श्रुत्वा मद्भक्तानां च गायनम्।
निन्दन्ति ये नरा मूढास्ते मद्द्वेष्या भवन्ति हि॥
(पद्मपुराण, उत्तर० ९४। २३—२५)

८. नाहं तपोभिर्विविधैर्न दानेन न चेज्यया।
शक्यो हि पुरुषैर्ज्ञातुमृते भक्तिमनुत्तमाम्॥
(कूर्मपुराण २। ४। २)

९. यज्ञदानतपोभिर्वा वेदाध्ययनकर्मभिः।
नैव द्रष्टुमहं शक्यो मद्भक्तिविमुखैः सदा॥
(अध्यात्मरामायण ३। १०। २१)

१०. मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
(भगवद्गीता १४। २६)

११. पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
(भगवद्गीता ९। २६)

१२. अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(भगवद्गीता ९। २२)

है और एकान्त प्रेमभाजन तो हो ही जाता है।' भगवान्ने अर्जुनसे कहा था—'हे अर्जुन ! तू अपने सम्पूर्ण धर्मोंका—अशेष कर्तव्य-कर्मोंका निष्काम भावसे परित्याग कर मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी एकमात्र शरणमें आ जा। मैं तुझे समस्त पापोंसे मुक्त कर दूँगा; तुझे शोक-चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं।'[13]—विश्वके सम्पूर्ण चराचर जीवाजीव मेरे ही रूप हैं—आत्माके अतिरिक्त कोई भी तत्त्व अमर नहीं। जिनका जन्म हुआ है, वे मरेंगे ही और जो मर चुके हैं, उनका पुनर्जन्म भी ध्रुव है। तू भगवान्की अनन्य भक्ति कर, उसे प्राप्त हो जायगा।

ऊपरकी विवृतियोंसे पता लगता है कि न केवल भक्ति, कर्म और ज्ञान—ये ही तीन, किंतु वेद, उपनिषद्, दर्शन, स्मृति और पुराण आदि समस्त आस्तिक वाङ्मय अनन्त सुखसागर सनातन सत्यकी ही खोजमें लगे हैं और उस परम तत्त्वकी उपलब्धिके अलग-अलग मार्ग बतलाते आ रहे हैं; पर अन्तिम लक्ष्य तो सबका वही परम तत्त्व है। मार्ग सबके पृथक्-पृथक् भले ही हों, पर उपलभ्य केन्द्र ज्ञाताज्ञात रूपमें अनेकोंका एक ही है। उपलब्धव्य स्थान (लक्ष्य)की प्राप्तिमें काल या अवधिका पार्थक्य सम्भव है और अवश्य है, पर अन्तमें पहुँचना सबको वहीं है। वे अनन्त सुखसागर प्रभु ही सबके लक्ष्य हैं—चाहे वे चार्वाकमतावलम्बी हों, जैन हों या बौद्ध हों, पारसी हों, भक्तियोगी हों, कर्मयोगी हों या ज्ञानयोगी हों, नास्तिक हों, आस्तिक हों, हिंदू हों या अहिंदू हों; पर विभिन्न पथगामी अशेष प्राणी उसी आनन्द-सागरके अनुसंधानमें संलग्न हैं। अन्तमें पुष्पदन्तकी उक्ति स्मरणीय है—"हे प्रभो ! त्रयी (वैदिकमार्ग), सांख्य-योग, पाशुपतमत, वैष्णवमत—सभी आपकी ही प्राप्तिके विभिन्न मार्ग हैं। रुचि-वैचित्र्यके कारण ही 'यह श्रेष्ठ है, वह हितकारी है'—इस प्रकार उन मार्गोंमें पार्थक्य प्रतीत होता है। जिस प्रकार समस्त नदी-नालोंका जल (अन्तमें) सागरमें ही पहुँचकर स्थैर्य लाभ करता है, उसी प्रकार सीधे या टेढ़े अशेष—विभिन्न साधन-मार्गोंसे यात्रा करनेवाले मनुष्योंके गन्तव्य वा लक्ष्य-केन्द्र एकमात्र आप ही हैं।'[14] जिस प्रकार आकाशसे पृथ्वीपर गिरा हुआ वृष्टिका जल छोटी-बड़ी नदियोंमें भटकता हुआ अन्तमें अपने उपलभ्य समुद्रको ही प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार किसी भी देवताके उद्देश्यसे किया गया पूजा-पाठ, ध्यान-धारणा आदि योगाभ्यास अन्तमें परम परमेश्वरको ही प्राप्त होता है।'[15]

परब्रह्मकी प्रेमाधीनता

सेस, महेस, गनेस, दिनेस, सुरेसहु, जाहि निरंतर गावैं।
जाहि अनादि, अनंत, अखंड, अछेद, अभेद सुबेद बतावैं॥
नारद-से सुक ब्यास रटैं, पचिहारे, तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ, छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं॥
गावैं गुनी, गनिका, गंधर्व औ, सारद, सेष सबै गुन गावैं।
नाम अनंत गनंत गनेस-ज्यों, ब्रह्मा-त्रिलोचन पार न पावैं॥
जोगी, जती, तपसी अरु सिद्ध, निरंतर जाहि समाधि लगावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ, छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं॥

—भक्त रसखान

13. मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(भगवद्गीता १८। ६५-६६)

14. त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥
(महिम्नःस्तोत्रम् ७)

15. आकाशात् पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्। सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति॥

श्रीभागवतामृत—४

[प्रभुपाद श्रीराधाविनोद गोस्वामीद्वारा उद्भावित श्रीमद्भागवत दशमस्कन्धके प्रथम अध्यायकी 'भागवतामृतवर्षिणी' बंगला टीकाका भावानुवाद]

(अनुवादक—पं० श्रीगौरीशङ्करजी द्विवेदी)

विगत अङ्कोंमें महाराज श्रीपरीक्षित्‌ने परम वैष्णव मुनिवर श्रीशुकदेवजीके समक्ष अपना हृद्गत अभिप्राय इस प्रकार प्रकट किया था—'भगवन् ! श्रीकृष्ण-कथा मुक्त, मुमुक्षु, भक्तीच्छु तथा विषयी पुरुषके लिये भी श्रवण करनेयोग्य है । साथ ही बहिर्मुख जीवोंकी बहिर्मुखताको दूर करनेका उपाय भी श्रीकृष्ण-कथाका श्रवण ही है ।' अब वे कहते हैं—'प्रभो ! आप ऐसा न सोचें कि इसे भूख-प्यास सता रही होगी, ऐसी दशामें इसका कथा-श्रवणमें मन कैसे लगेगा ? आपके मुखारविन्दसे जो श्रीहरिकथामृतकी धारा प्रकट हो रही है, उसको पीते रहनेके कारण मुझे भूख-प्यासका कष्ट प्रतीत ही नहीं होता है । अतः मेरी विनम्र प्रार्थना है कि आप एक क्षणका भी विलम्ब न करके अविरत गतिसे हम सबको इस कथामृतका पान करावें ।'

नैषातिदुस्सहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते । पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम् ॥

(श्रीमद्भा० १० । १ । १३)

अन्वय—एषा (सर्वजनविदिता), दुस्सहा (सोढुमशक्या), क्षुत् (क्षुधा), त्वन्मुखाम्भोजच्युतम् (तव वदनकमलविनिःसृतम्), हरिकथामृतम् (श्रीगोविन्दकथासुधाम्), पिबन्तम् (परमासक्त्या सेवमानम्), त्यक्तोदम् अपि (उदकमपि त्यक्तवन्तम्), माम् न बाधते (नैव पीडयति) ॥ १३ ॥

मूलानुवाद—मैं आपके मुख-कमलसे विनिर्गत हरिकथामृतपान करनेमें रत हूँ, अतएव बिन्दुमात्र जल ग्रहण न करनेपर भी इस दुस्सह क्षुधासे पीड़ित नहीं हो रहा हूँ ॥ १३ ॥

श्रीभागवतामृतवर्षिणी—श्रीकृष्णलीला-कथा-श्रवणकी बलवती लालसासे महाराज परीक्षित् अनेक प्रश्न करके उनका उत्तर सुननेके लिये उद्ग्रीव होकर श्रीशुकदेवजीके मुखकी ओर देखते हुए तृष्णातुर चातकके समान प्रतीक्षा करने लगे । उत्तर सुननेमें क्षणमात्रका बिलम्ब भी उत्कण्ठावश उनको युग-युगान्तर-सा प्रतीत हो रहा है । इधर परमहंस-चूडामणि श्रीशुकदेवजी महाराज परीक्षित्‌के मुखसे श्रीकृष्ण-कथा-सम्बन्धी प्रश्न सुनकर एकबारगी प्रेमानन्दमें निमग्न और बेसुध हो गये हैं; स्तम्भ-स्वेदादि सात्त्विक विकारोंसे परिशोभित होकर जडवत् स्थित हैं । महाराज परीक्षित् अपने प्रश्नका उत्तर सुननेके लिये परमव्याकुलतामें श्रीशुक-देवजीके इस भावको लक्ष्य न कर सके और मन-ही-मन सोचने लगे—'मैं आज चार दिनोंसे निरन्तर श्रीशुकदेवजीके निकट नाना प्रकारकी तत्त्व-कथा सुनता आ रहा हूँ और इन चार दिनोंमें भोजन करना तो दूरकी बात है, एक बूँद जलतक मैं मुँहमें न ले सका; जान पड़ता है कि इसी कारण श्रीशुकदेवजी मुझे क्षुधा-तृषासे व्याकुल समझकर कुछ बोलते नहीं ।' इतना सोचकर महाराज परीक्षित् श्रीशुकदेवजी-से बोले—'हे गुरो ! क्षुधा-पिपासा ही मेरे परम शत्रु हैं; क्षुधा-पिपासाकी प्रबल ताड़नासे ही मैं तपस्वी ब्राह्मणके गलेमें मृत सर्प डालकर अपराधी बना और उसी दिन प्रतिज्ञा कर ली कि अब भूख लगनेपर अन्न और प्यास लगनेपर पानी ग्रहण नहीं करूँगा । क्षुधा-पिपासाको सहन करनेमें कोई समर्थ नहीं होता; विशेषतः मेरा यह राजभोगसे पुष्ट कोमल शरीर है, इसके लिये तो उसका सहन करना एकदम असम्भव है । किंतु कैसे आश्चर्यकी बात है ! मुझे इसमें कुछ भी कष्ट नहीं जान पड़ता । दैहिक असुविधाके अनुभवकी बात तो दूर रहे, मुझे देह है या नहीं, यह भी स्मृतिपथमें नहीं आ रहा है । आपके मुख-कमलसे प्रकट हरिकथामृतके पानसे ही मेरी ऐसी अवस्था हुई है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है । स्वर्गका अमृत मधुर और मादक तो होता है, किंतु हरिकथामृतके साथ उसकी तुलना नहीं हो सकती ।

इस अमृतके माधुर्यका एक बार आस्वादन करनेपर और किसी माधुर्यकी ओर चित्त आकृष्ट नहीं होता । स्वर्गके अमृतकी मादकता कुछ ही समयके लिये होती है; परंतु इस अमृतकी मादकता कभी लुप्त नहीं होती । इस अमृत-पानसे मत्त होनेपर मनुष्य अपने संसारको भूल जाता है; फिर देह-विस्मृति होनेमें क्या आश्चर्य ? हरिकथामृतमें ऐसी महाशक्ति है; तदुपरि आपके मुख-कमलरूप पात्रके द्वारा परोसे जानेपर यह अधिकाधिक शक्ति दिखलानेमें समर्थ हो रहा है ।'

महाराज परीक्षित्के वचनसे वैष्णवचूड़ामणिके मुखद्वारा होनेवाले हरिकथामृतके श्रवणका माहात्म्य भलीभाँति समझा जा सकता है । श्रीश्रीमन्महाप्रभुने इसी कारण आदेश दिया है—

'भागवत पड़ गिया वैष्णवेर स्थाने'

(श्रीचैतन्य-चरितामृत)

श्रीजीवगोस्वामिपादने 'श्रीभक्तिसंदर्भ' ग्रन्थमें श्रवण-विचारके प्रसङ्गमें यह सिद्धान्त निरूपित किया है—**'श्रीभगवन्नामादेः श्रवणं परमं श्रेयः, तत्र महत्कीर्त्यमानस्य।'** इत्यादि—श्रीभगवान्के नाम, रूप, गुण, लीला आदिका श्रवण ही जीवके लिये परम मङ्गलका हेतु है । वह भी यदि महत् अर्थात् श्रीभगवद्भक्तके द्वारा कीर्तित होनेपर अत्यधिक फलप्रद होता है ।'

श्लोकके 'त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम्'—यह अंश देखनेपर आपाततः लगता है कि 'अम्भोज' शब्दका अर्थ 'पद्म' है । उससे अमृतस्रवण किस प्रकार होगा ? इसका उत्तर देते हुए श्रीवैष्णवतोषणीकार कहते हैं कि "अमृतक्षरणेनास्याम्भोजस्यालौकिकत्वं दर्शितम्—श्रीशुकदेवजीके मुख-कमलसे अमृत स्रवित होता है, अतएव यह 'कमल' प्राकृत नहीं है । यह अलौकिक और असाधारण है ।" टीकाकार श्रीविश्वनाथचक्रवर्तिमहाराज कहते हैं कि "'अम्भोज' और 'अमृत'—ये दोनों शब्द परस्पर असीम माधुर्य प्रकट कर रहे हैं—'अम्भोजपदेन कथामृतस्य मधुत्वमारोपितम्, अमृतपदेन मुखाम्भोजस्य चन्द्रत्वमारोपितम्—अम्भोज अर्थात् पद्मसे स्रवित होनेके कारण कथामृतमें मधुधर्म—मादकत्व है, यह ज्ञात होता है तथा अमृतस्रवित होनेके कारण मुख-कमलमें चन्द्रधर्म—आनन्दप्रदत्व प्रदत्त हुआ है, ऐसा जाना जाता है ।' इस प्रकार 'अम्भोज' और 'अमृत' शब्द परस्पर एक दूसरेके माधुर्यकी वृद्धि करते हैं।"

विशेषतः 'अम्भोज' शब्दका 'चन्द्र' अर्थ करनेमें भी क्या हानि है ? कोई हानि नहीं है । चन्द्रने भी तो समुद्र (के जल)से जन्म ग्रहण किया है (अतः वह भी 'अम्भोज' है) । सार बात यह है कि महाराज परीक्षित् शुक-मुखनिर्गलित श्रीभगवत्कथामृतको पान करके परितृप्त और आत्मविस्मृत हो रहे हैं तथा बलवती आकाङ्क्षाके साथ पुनः-पुनः नाना प्रकारसे प्रश्न कर रहे हैं । उनकी धारणा यह है कि "चार दिनके उपवासमें भी मुझे जो कोई कष्ट नहीं हो रहा है, इसका एकमात्र कारण हरिकथामृत-पान ही है । इससे विरत होनेपर फिर मेरे जीवनकी कोई आशा नहीं । अतएव हे गुरो ! आप और देर न करें; सत्वर हरिकथामृत-पान कराकर मुझे जीवित बनाये रखिये । यद्यपि मैंने मरनेका संकल्प करके ही प्रायोपवेशन किया है तथा जीवित रहनेपर भी सातवें दिन ब्रह्मशापसे मेरे प्राण चले जायँगे, तथापि इस हरिकथामृतके पानके लिये ही मुझमें जीवन धारण करनेकी लालसा पैदा हुई है । इसीलिये कहता हूँ—हे गुरो ! और देर न करें, हरिकथामृत-पान करानेके लिये तयार होकर मुझे कृतार्थ करें" ॥ १३ ॥

श्रीसूत उवाच

एवं निशम्य भृगुनन्दन साधुवादं वैयासकिः स भगवानथ विष्णुरातम्
प्रत्यर्च्य कृष्णचरितं कलिकल्मषघ्नं व्याहर्त्तुमारभत भागवतप्रधानः ॥

(श्रीमद्भा० १० । १ । १४)

अन्वय—भृगुनन्दन (हे शौनक), अथ (परीक्षित्प्रश्नानन्तरम्), सः (सर्वलोकप्रसिद्धः), भगवान् (सर्वज्ञशिरोमणिः), भागवतप्रधानः (श्रीभगवद्भक्तचूडामणिः), वैयासकिः (व्यासनन्दनः श्रीशुकदेवः), एवम् (पूर्वोक्तम्), साधुवादम् (परीक्षितः समीचीनं प्रश्नम्), निशम्य (श्रुत्वा), विष्णुरातम् (तं परीक्षितम्), प्रत्यर्च्य (साधुवादादिना सम्मान्य), कलिकल्मषघ्नम् (कलिकलुषहरम्), कृष्णचरितम् (श्रीकृष्णलीलाकथा), व्याहर्त्तुम् (कीर्तयितुम्), आरभत (आरब्धवान्) ॥ १४ ॥

मूलानुवाद—सूतजी बोले—'हे शौनकजी ! महाराज परीक्षित्के अति समीचीन और युक्तियुक्त प्रश्नोंको सुनकर परमभागवत, सर्वज्ञशिरोमणि व्यासजीके पुत्र श्रीशुकदेवजीने उनको धन्यवाद देते हुए कलि-कल्मषको हरनेवाली श्रीकृष्णलीला-कथा कहना प्रारम्भ कर दिया ॥ १४ ॥

श्रीभागवतामृतवर्षिणी—श्रीमद्भागवत प्रथम स्कन्धके अनुशीलन करनेपर ज्ञात होता है कि पुराण-वक्ता श्रीसूतजीने नैमिषारण्यवासी शौनक आदि साठ हजार ऋषियोंके सामने यह शुक-परीक्षित्-संवाद वर्णन किया था। महाराज परीक्षित्ने श्रीकृष्णलीला सुननेके लिये उत्सुक होकर श्रीशुकदेवजीके सामने जो प्रश्न किये थे, उनका वर्णन जब श्रीसूतजीने शौनकादि ऋषियोंके सम्मुख किया तो वे सब भावाविष्ट हो उठे; यह देखकर श्रीसूतजी उच्च स्वरसे सम्बोधन करके उनका आह्वान करते हुए कहने लगे—'हे भृगुनन्दन! हे शौनकादि ऋषिगण! आपलोग प्रश्न सुनते ही एकबारगी बेसुध हो उठे; फिर इन सब प्रश्नोंका उत्तर सुनकर आपलोगोंकी क्या अवस्था होगी, यह समझमें नहीं आता।' श्रीसूतजीने शौनक ऋषिको 'भृगुनन्दन' शब्दसे सम्बोधित करके श्रीभगवान्के भक्तवात्सल्यकी ओर संकेत किया। उनका अभिप्राय यह था कि 'हे शौनक! आपके पिता भृगुमुनि श्रीभगवान्के भक्तवात्सल्यसे विशेषरूपसे अवगत हैं; श्रीभगवान्ने उनके पदचिह्नको अपने वक्षःस्थलपर धारणकर जगत्में भक्तवात्सल्यका चिह्न रख छोड़ा है। आप उनके पुत्र हैं, अतएव पितृ-सम्पद्से पूर्णतः वञ्चित नहीं हैं। उस भक्तवत्सल श्रीभगवान्की लीला-कथाका प्रश्न सुनकर श्रीशुकदेवजीने क्या किया और उनको क्या उत्तर दिया, यह ध्यानपूर्वक सुनिये।'

श्रीसूतजी नैमिषारण्यवासी ऋषियोंसे बोले—'हे ऋषिगण! भागवत-प्रधान भगवान् श्रीशुकदेवजीने पूर्वोक्त साधुवाद श्रवण करके विष्णुरातको धन्यवाद दिया और कलि-कल्मषको हरनेवाले श्रीकृष्णलीला-चरितका वर्णन करना आरम्भ किया।'

श्रीसूतजीके वाक्यके प्रत्येक पद निगूढ़ तत्त्व और सिद्धान्तसे परिपूर्ण हैं। अतएव प्रत्येक पदका रसास्वादन करना ठीक है। इस श्लोकमें 'भागवत-प्रधान', 'भगवान्' और 'वैयासकि'—इन तीन पदोंके द्वारा श्रीशुकदेवजीका परिचय दिया गया है। 'श्रीचैतन्यचरितामृत' नामक ग्रन्थमें लिखा है—

> एक भागवत हय भक्तिरसशास्त्र।
> आर भागवत हय भक्तिरसपात्र॥

श्लोकस्थ 'भागवतप्रधान' पदकी व्याख्या करते समय 'भागवत' अर्थात् भक्तिरसशास्त्र है, प्रधान जिसका, तथा 'भागवत' अर्थात् भक्तिरसपात्र भगवद्भक्तोंमें जो प्रधान हैं—ये दोनों अर्थ प्राप्त होते हैं। परमहंस-चूड़ामणि श्रीशुकदेवजीमें ये दोनों ही अर्थ संगत होते हैं। श्रीशुकदेवजीने आजन्म श्रीमद्भागवतको छोड़कर अन्य किसी शास्त्रका श्रवण-कीर्तन नहीं किया। अतएव श्रीगोविन्दलीला-वर्णन-प्रधान भागवत ही उनका प्रधान ग्रन्थ है; इसके सिवा अन्य कुछ भी वे नहीं जानते। (श्रीशुकदेवजीके राजर्षि जनकके सामने तत्त्वोपदेश-श्रवण करनेका वृत्तान्त जन्मान्तरीण है। शास्त्रोंमें अनेक शुकदेव नाम पाये जाते हैं, अतएव अन्य किसी शुकदेवके विषयमें कुछ बोलनेमें कोई आपत्ति नहीं है। श्रीरामचन्द्रकी लीला चौबीसवीं चतुर्युगीमें हुई थी; राजर्षि जनक उस युगमें उपस्थित थे। श्रीमद्भागवत-वक्ता श्रीशुकदेवजीने अट्ठाईसवीं चतुर्युगीमें महाराज परीक्षित्के निकट श्रीमद्भागवत-कीर्तन किया; अतएव जन्मान्तर अथवा भिन्न व्यक्ति माननेमें कोई असामञ्जस्य नहीं होता।) भागवत अर्थात् श्रीभगवद्भक्तोंमें श्रीशुकदेवजी प्रधान थे, इसमें किसीको कोई आपत्ति नहीं हो सकती। श्रीशुकदेवजी आजन्म संसारसे विरक्त तथा तत्त्वज्ञानमें लीन रहनेवाले थे। उनके समान कोई दूसरा भागवतपुरुष संसारमें न हुआ, न होगा। श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्ध (२। ५५)में लिखा है—

> विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा-
> द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।
> प्रणयरसनया धृताङ्घ्रिपद्मः
> स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥

'जिन श्रीहरिके नामोच्चारणमात्रसे भव-संताडित विवश व्यक्तिके भी सारे पाप दूर हो जाते हैं, उस सर्वपापहर्ता, सबके मनको हरनेवाले श्रीहरिके चरण-कमलके साथ जिनका हृदय-मृणाल प्रणय-सूत्रमें नित्य आबद्ध रहता है, वही भागवत-प्रधान हैं।' परमहंसचूड़ामणि श्रीशुकदेवजीमें ही वे भागवतोक्त भागवत-प्रधान लक्षण विद्यमान हैं। भुक्ति, मुक्ति, सिद्धि आदि नाना प्रकारकी वासनाओंसे विशिष्टकर्मी, ज्ञानी और योगी आदिसे समावृत सभामें महाराज परीक्षित् श्रीभगवान्की परम गोपनीय लीलाओंसे सम्बन्धित प्रश्न पूछ रहे हैं। श्रीभगवान्की लीला-कथा भक्तोंकी प्राणप्रिय वस्तु है, किंतु योगी-ज्ञानी आदिके निकट लीला-कथा समादृत नहीं होती। वे लोग इस अप्राकृत लीला-कथाको प्राकृत समझकर श्रीभगवान् और उनके नित्यसिद्ध पार्षदगणके सामने अपराधी हो जाते हैं; अतएव उनके सामने लीला-कथाको गुप्त रखना ही श्रेयस्कर है। अतएव महाराज परीक्षित्ने

यद्यपि लीला-कथा-श्रवण करनेकी प्रबल वासनाके वशीभूत होकर प्रश्न किया है, तथापि यहाँ श्रीशुकदेवजीको इन सब प्रश्नोंके उत्तरमें श्रीभगवान्‌की लीला-कथाको प्रकट करना अभीष्ट नहीं है। श्लोकस्थ 'भागवतप्रधान' पदसे इस शङ्का या समस्याका समाधान हो जाता है । श्रीशुकदेवजी भागवत-प्रधान अर्थात् उत्तमाधिकारी भक्त हैं। जिसकी जो भी वासना हो, उत्तमाधिकारी भक्तकी अचिन्त्य शक्तिसे सबकी सारी वासनाएँ श्रीगोविन्दचरणारविन्दकी सेवाकी वासनामें परिणत हो जाती हैं। श्रीमद्भागवत सप्तम स्कन्ध (४ । ४२) में प्रह्लादचरितमें वर्णित है कि—

स उत्तमश्लोकपदारविन्दयो-
निषेवयाकिंचनसङ्गलब्धया ।
तन्वन् परां निर्वृतिमात्मनो मुहु-
र्दुस्सङ्गदीनस्य मनः शमं व्यधात् ॥

भक्तचूड़ामणि प्रह्लाद मातृगर्भमें वास करते समय नारदऋषिके सङ्ग और उपदेशसे श्रीगोविन्दचरणारविन्दका स्मरण करते हुए सर्वदा प्रेमानन्दमें पुलकित रहते थे और उनके सङ्गकी महिमासे कुसङ्गवश भक्तिके लेशमात्रसे हीन दैत्य-बालकोंके चित्त भी शान्तभावसे युक्त रहते थे । उनमें हरिभक्तिका बीज अङ्कुरित हुआ था । परमहंसचूड़ामणि श्रीशुकदेवजीके सङ्गकी महिमासे योग-ज्ञान आदिके प्रभावसे विशुद्धचित्त योगीजनके चित्तमें यदि हरिभक्तिका बीज अङ्कुरित हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

विश्व-बीज सच्चिदानन्दघन-विग्रहमें भग अर्थात् ऐश्वर्य-वीर्य आदि षडैश्वर्य विराजित होनेके कारण वह 'भगवान्' हैं। व्यास-शुकादि ऋषि विश्वनियन्ता न होनेपर भी शास्त्रोंमें 'भगवान्' शब्दसे अभिहित होते हैं। इसके कारणका अनुसंधान करनेपर 'श्रीविष्णुपुराण'में देखा जाता है—

उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम् ।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥
(६ । ५ । ७८)

''जगत्‌की उत्पत्ति, प्रलय, जीवगण स्वकर्मानुसार कहाँसे आते हैं और कहाँ जायँगे, भवरोगकी महौषधि विद्या अर्थात् तत्त्वज्ञान तथा भवरोगका मूल कारण अविद्या—इन छः तत्त्वोंको जो जानते हैं, वे 'भगवान्' शब्दसे अभिहित होते हैं।'' व्यास-शुक आदि मुनिगण इन छः तत्त्वोंसे अभिज्ञ थे; अतएव विश्वनियन्ता भगवान् न होनेपर भी वे लोग तत्त्वज्ञके रूपमें शास्त्रमें 'भगवान्' शब्दसे अभिहित होते हैं।

श्रीमद्भागवत नवम स्कन्ध (४ । ६८) में देखा जाता है कि विश्वनियन्ता श्रीभगवान् स्वयं निज श्रीमुखसे कहते हैं—

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् ।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥

'साधु अर्थात् मेरे भक्तचूड़ामणि मेरे हृदय हैं और मैं उनका हृदय हूँ। वे मेरे सिवा और कुछ नहीं जानते, मैं भी उनके सिवा और कुछ नहीं जानता।' इससे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि श्रीभगवान् अपने भक्तोंको अपनेसे पृथक् नहीं मानते । विशेषतः श्रीभगवद्भक्तोंका किस प्रकार सम्मान करना चाहिये, यह भी श्रीभगवान् बतलाते हैं—'स च पूज्यो यथा ह्यहम्।'—मेरा भक्त मेरे समान ही पूजनीय है।' भगवान्‌के इस आदेशके अनुसार शास्त्रोंमें स्थान-स्थानपर श्रीभगवान्‌के साथ अभेदरूपमें भक्तशिरोमणि भी 'भगवान्' शब्दसे अभिहित हुए हैं। श्रीसूतजीने भी नैमिषारण्यवासी ऋषियोंके सामने श्रीशुकदेवजीके सम्बन्धमें बोलते समय 'भगवान्' शब्दका उल्लेख किया है । इसका कारण भी उपर्युक्त शास्त्रवचनके सिवा और कुछ नहीं है।

इस श्लोकमें श्रीशुकदेवजीका नामोल्लेख न करके 'वैयासकिः' अर्थात् 'व्यासनन्दन' कहकर उनका परिचय दिया गया है। इससे उनकी श्रीकृष्णलीला-कथाके वर्णनकी शक्तिका संकेत मिलता है। वेदोंके तत्त्वको हृदयंगम करके उनको चार भागोंमें विभक्त करनेके कारण श्रीकृष्णद्वैपायनका नाम 'व्यास' है । श्रीशुकदेवजीको उनके ही पुत्रके रूपमें उल्लेख करके पितृसम्पत्‌के अधिकारीके रूपमें स्थापित और विज्ञापित किया गया है। वेदोंमें गोप्य श्रीकृष्णलीला-कथाके कहनेकी शक्ति, वेदार्थतत्त्वज्ञ व्यासजीके तपःफलप्रसूत पुत्र, आजन्मसंसार-विरक्त तथा तत्त्वज्ञानरत श्रीशुकदेवजीमें ही होना सम्भव है, यह भी 'वैयासकिः' पदसे ध्वनित होता है।

श्रीसूतजी शौनकादि ऋषियोंसे बोले—'भागवतप्रधान वैयासकिने विष्णुरातको साधुवाद प्रदान करके श्रीकृष्णलीला-कीर्तन प्रारम्भ किया।' सूतोक्त 'विष्णुरात' शब्द परीक्षित्‌का ही एक दूसरा नाम है । श्रीमद्भागवत प्रथम स्कन्ध (१२ । १६-१७) में लिखा है कि परीक्षित्‌के जन्मके बाद महाराज युधिष्ठिरके बुलानेपर दैवज्ञ ब्राह्मणोंने आकर नवजात शिशु परीक्षित्‌को देखकर कहा था—

रातो वोऽनुग्रहार्थाय विष्णुना प्रभविष्णुना ॥
तस्मान्नाम्ना विष्णुरात इति लोके भविष्यति ।

"सर्वेश्वर श्रीकृष्णने जगत्‌के ऊपर कृपा करके यह बालक तुमलोगोंको प्रदान किया है, अतएव विष्णुके द्वारा 'रात' अर्थात् प्रदत्त होनेके कारण यह 'विष्णुरात' नामसे अभिहित होगा।"

श्रीभगवान्‌ने अश्वत्थामाके अस्त्रसे परीक्षित्‌की रक्षा करके क्यों युधिष्ठिरादिको प्रदान किया था, यह यहाँ स्पष्ट समझमें आ जाता है। महाराज परीक्षित्‌की रक्षा यदि श्रीकृष्णने नहीं की होती तो कौन इस प्रकार परम आग्रहपूर्वक उनकी लीला-कथा-सम्बन्धी प्रश्न करके श्रीशुकदेवजीके मुखसे उसका उत्तर सुनकर उस परम पावनी श्रीकृष्णलीला-कथाका जगत्‌में प्रसार करता ? अतएव श्रीकृष्णकी लीला-कथाके प्रसारका उपयुक्त पात्र समझकर श्रीकृष्णने परीक्षित्‌की मातृगर्भमें रक्षा की।

श्रीशुकदेवजीने विष्णुरातको साधुवाद देते हुए 'कलिकल्मषघ्न श्रीकृष्णचरित' सुनाना प्रारम्भ किया। 'कृष्ण' नामसे ही यह स्पष्ट हो जाता है कि वह स्वरूपतः सर्वचित्ता-कर्षक परमानन्दघनविग्रह हैं। यदि उनका चरित अर्थात् लीला सर्वचित्ताकर्षक हो तो इसमें फिर कहना ही क्या ?

इस श्लोकमें 'कलिकल्मषघ्न' विशेषणसे श्रीकृष्णचरितका अनन्यसाधारण उत्कर्ष ध्वनित होता है। 'कलिकल्मषघ्न' शब्दकी आलोचना करके अर्थ निकालनेकी चेष्टा करनेपर अनेक अर्थ प्राप्त होते हैं। 'कलौ यत् कल्मषं तत् हन्ति—कलियुगके जीव स्वभावतः पापासक्त होते हैं; श्रीकृष्णचरितके आस्वादनसे वह पाप दूर हो जाता है।' 'किं वा कलिरूपं यत्कल्मषं तत् हन्ति—श्रीकृष्णचरित कलियुगके जीवोंके पापका नाश भी करता है, साक्षात् पापमूर्ति कलिका नाश करनेमें भी वह समर्थ है।' अथवा 'कलि' शब्दका अर्थ है—कलह। कभी किसीके मनमें यदि श्रीभगवत्सम्बन्ध करनेकी वासना उत्पन्न होती है तो जीवके लिये प्रकृत साधन क्या है, साध्य क्या है, प्रकृत तत्त्व क्या है—इस प्रकारकी नाना प्रकारकी 'कलि' अर्थात् साध्य-साधन कलह आकर उपस्थित होता है। यह 'कलह' कल्मष अर्थात् महापाप है; क्योंकि इस कलहकी निवृत्ति हुए बिना कोई साधनपथमें अग्रसर नहीं हो सकता। श्रीकृष्णचरित इस कलहका नाश करनेमें समर्थ है। जो एक बार श्रीकृष्णचरित श्रवण करेगा, उसको फिर साध्य-साधनके सम्बन्धमें कोई कलह नहीं रह जायगा। तब सारे कलहोंको तिलाञ्जलि देकर श्रीकृष्णका दास बननेकी वासना जाग उठेगी। अतएव श्रीकृष्णचरित 'कलिकल्मषघ्न' है। 'कलिकल्मषघ्न' शब्द 'विष्णुरात'के विशेषणके रूपमें भी व्यवहृत हो सकता है। तब 'श्रीशुकदेवजीने कलिनिग्रहकारी महाराज परीक्षित्‌के सामने श्रीकृष्णचरित कहना प्रारम्भ किया'—इस प्रकारका अर्थ प्राप्त होगा ॥ १४ ॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

सम्यग्व्यवसिता बुद्धिस्तव राजर्षिसत्तम। वासुदेवकथायां ते यज्जाता नैष्ठिकी रतिः ॥
वासुदेवकथाप्रश्नः पुरुषांस्त्रीन् पुनाति हि। वक्तारं पृच्छकं श्रोतृंस्तत्पादसलिलं यथा ॥

(श्रीमद्भा० १० । १ । १५-१६)

अन्वय—(हे) राजर्षिसत्तम !, यत् (यतः), ते (तव), वासुदेवकथायाम् (श्रीगोविन्दलीलाकथाश्रवणे), नैष्ठिकी (परमकाष्ठां प्राप्ता), रतिः (आसक्तिः), जाता, (अतः) तव बुद्धिः सम्यग् व्यवसिता (कृतनिश्चया) ॥१५॥

मूलानुवाद—हे राजर्षिसत्तम ! तुम्हारी श्रीकृष्णकथा-श्रवण करनेमें प्रगाढ़ आसक्ति उत्पन्न हुई है, अतएव तुम्हारी बुद्धि कृतनिश्चया है अर्थात् अब तुमने समझ पाया है कि प्रकृत श्रोतव्य क्या है ? ॥ १५ ॥

अन्वय—तत्पादसलिलं यथा (तस्य वासुदेवस्य चरणोदकवत्), वासुदेवकथाप्रश्नः (श्रीगोविन्दकथाजिज्ञासापि), वक्तारम् (प्रश्नस्य उत्तरदातृत्वेन निर्द्धारितं जनम्), पृच्छकम् (प्रश्नकर्तारम्), श्रोतृन् (प्रश्नश्रोतृनपि जनान्), त्रीन् पुरुषान् पुनाति (विषयावेशमलतः शोधयति), (यथा श्रीगोविन्दचरणोदकं सेक्तारं सिच्यमानं सेक्तृसङ्गिनं च पुनाति यथा वा गङ्गोदकं स्पर्शकारिण ऊर्द्ध्वतनाधस्तनसमानान् त्रिपुरुषान् पुनाति तद्वद्वासुदेवकथाप्रश्नोऽपीत्यर्थः) ॥ १६ ॥

मूलानुवाद—श्रीगोविन्द-चरण-निस्सृत गङ्गा जिस प्रकार तीन कुलोंको पवित्र करती है, अथवा शालग्रामादिमें जल-सेचन करनेपर जैसे सेचनकर्ता, उसको जो सेचनमें प्रवृत्त करता है वह, तथा उसके सङ्गी-साथी सभी कृतार्थ हो जाते हैं, इसी प्रकार श्रीगोविन्दकथा सुननेके लिये प्रश्न करनेपर प्रश्नकर्ता और जिससे प्रश्न किया जाता है वह तथा जो प्रश्न सुनते हैं, वे सभी कृतार्थ हो जाते हैं ॥ १६ ॥

श्रीभागवतामृतवर्षिणी—वक्ता और श्रोता यदि परस्पर प्रीतिभाजन हों और परस्पर एक-दूसरेके गुणोंसे आकृष्ट हों तो वक्तव्य विषयका रसास्वादन बहुत अच्छा होता है। महाराज परीक्षित्‌ने श्रीशुकदेवजीके गुणोंसे आकृष्ट होकर उनके माहात्म्यका वर्णन करते हुए प्रश्न किया है। श्रीशुकदेवजी भी महाराज परीक्षित्‌के गुणोंसे आकृष्ट होकर उनको धन्यवाद दे रहे हैं। इसके बाद श्रीकृष्णलीला-कथा कहेंगे और दोनों ही उसका रसास्वादन करेंगे।

श्रीशुकदेवजी महाराज परीक्षित्‌से बोले—'हे राजर्षिसत्तम! जब श्रीकृष्णलीला-कथा श्रवण करनेमें तुम्हारा इतना आग्रह है तो मैंने जान लिया कि तुम्हारी बुद्धि सम्यक् प्रकारसे व्यवसिता है अर्थात् प्रकृत तत्त्व और कर्त्तव्यनिर्णयमें समर्थ हो गयी है।'

गीतामें श्रीभगवान्‌ने अर्जुनको तत्त्वोपदेश देते समय कहा है—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥
(२। ४१)

'हे अर्जुन! व्यवसायात्मिका बुद्धि एकनिष्ठ होती है और अव्यवसायी लोगोंकी बुद्धि (अव्यवसायात्मिका बुद्धि) अनन्त (असंख्य विषयगामिनी) होती है तथा अनेक अवान्तर भेदोंसे युक्त होती है।' इससे ज्ञात होता है कि जागतिक विषयनिष्ठ बुद्धि 'अव्यवसिता' तथा परतत्त्वनिष्ठ बुद्धि 'व्यवसिता' होती है।

श्रीशुकदेवजीने महाराज परीक्षित्‌के प्रश्नको सुनते ही उनसे कहा—'तुम्हारी बुद्धि 'सम्यग् व्यवसिता' है—अतएव ज्ञात होता है कि यहाँ श्रीभगवत्प्रोक्त व्यवसिता बुद्धिका ही कुछ विशेषत्व है। थोड़ा विचार करके देखनेपर ज्ञात होता है कि गीतामें नानाविषयनिष्ठ बुद्धिको 'अव्यवसिता' तथा एकमात्र परतत्त्वनिष्ठ बुद्धिको 'व्यवसिता' कहा गया है। श्रीशुकदेवजीने श्रीभगवान्‌की लीला-निष्ठ बुद्धिको 'सम्यग् व्यवसिता' बुद्धि कहा है।

'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।'
(कठोपनिषद् ४। १३)

'जिस मनुष्यकी बुद्धि नाना प्रकारकी प्राकृत वस्तुओंमें आबद्ध है, उसकी संसारमें संसारान्तरकी प्राप्ति ही मति है'—इस श्रुतिवाक्यसे अव्यवसितबुद्धियुक्त जीवकी पुनः-पुनः संसारप्राप्तिकी बात व्यक्त होती है।

'तरति शोकमात्मवित्' (छान्दोग्य उप० ७। १)

'आत्मतत्त्वज्ञ मनुष्यके प्राकृत दुःखोंका अवसान हो जाता है।'—इस श्रुतिवाक्यमें व्यवसितबुद्धियुक्त जीवकी संसारसे मुक्तिकी बात कही गयी है।

तथा—

'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।'
(तैत्तिरीय उप० २। ७)

'लीलारसमय रूपमें परतत्त्वको प्राप्त करनेपर आनन्दानुभव होता है'—इस श्रुतिवाक्यमें सम्यग्व्यवसित-बुद्धियुक्त जीवके प्रेमानन्दानुभवका उल्लेख किया गया है।

महाराज परीक्षित्‌ने श्रीशुकदेवजीसे श्रीकृष्ण-लीला-कथाका प्रश्न करते समय उनको 'मुनिसत्तम' कहकर सम्बोधित किया है। श्रीशुकदेवजीने उनके प्रश्नका उत्तर देना प्रारम्भ करते समय उनको 'राजर्षिसत्तम' कहकर सम्बोधित किया। उनका अभिप्राय यह था कि ''भरत आदि नृपगण 'राजर्षि' थे और तुम 'राजर्षिसत्तम' हो।'' राजाओंमें जिसने साधन-अनुष्ठान आदिके द्वारा सिद्धि प्राप्त की है, वे राजर्षि हैं तथा राजर्षिवर्गमें जो श्रीकृष्णभक्त हैं, वे 'सत्' हैं, जो श्रीकृष्णमें अनुरक्त हैं, वे 'सत्तम' हैं तथा जो श्रीगोविन्दके चरणारविन्दमें प्रेमवान् हैं वे 'सत्तम' हैं। श्रीशुकदेवजीने महाराज परीक्षित्‌से संकेतसे कहा—''तुम्हारे कथनानुसार 'मुनिसत्तम' होते हुए भी मेरी अपेक्षा तुम श्रेष्ठ हो। तुम 'ऋषिसत्तम' होनेपर भी मेरे तुल्य रहते, परंतु तुम्हारेमें राजत्व अधिक है; क्योंकि तुम 'राजर्षिसत्तम हो।''

महाराज परीक्षित्‌की बुद्धि 'सम्यग्व्यवसिता' क्योंकर है, यह बतलाते हुए श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

'वासुदेवकथायां ते यज्जाता नैष्ठिकी रतिः॥'

अपने सम्पूर्ण ऐश्वर्य और माधुर्यको व्यक्त करके जगत्‌को कृतार्थ करनेके लिये 'वसुदेव' अर्थात् शुद्ध सत्त्वकी मूर्ति वात्सल्य प्रेमवान् भक्तके पुत्ररूपमें अवतीर्ण होनेके कारण श्रीभगवान्‌का नाम 'वासुदेव' है। उनकी ऐश्वर्य-माधुर्यमयी लीला-कथामें तुम्हारी प्रगाढ़ आसक्ति उत्पन्न हुई है तथा उस लीला-कथाका तुम जीवनके सार-सम्बलके रूपमें अवलम्बन ले सकते हो, अतएव तुम्हारी बुद्धि 'सम्यग् व्यवसिता' है।

जीवगणके संदेहोंका अन्त नहीं है, प्रश्नोंका अन्त नहीं है । परंतु अधिकांश लोगोंके प्रश्न प्राकृत अर्थात् सांसारिक विषयको लेकर ही होते हैं । महाराज परीक्षित्‌की बुद्धि 'सम्यग्व्यवसिता' होनेके कारण उनके प्रश्न श्रीकृष्णलीला-कथाविषयक हुए हैं । श्रीशुकदेवजी महाराज परीक्षित्‌के प्रश्नोंपर परम प्रसन्न होकर बोले—'हे राजर्षिसत्तम ! ये प्रश्न करके तुम स्वयं कृतार्थ हुए हो तथा मुझसे ये प्रश्न करके तुमने मुझे भी कृतार्थ कर दिया है । समागत श्रोतृमण्डली भी इन प्रश्नोंको सुनकर कृतार्थ हो रही है । श्रीकृष्ण-कथा-सम्बन्धी प्रश्नकी ऐसी ही अचिन्त्य शक्ति है । श्रीभगवान्‌के चरणप्रान्तसे विनिस्सृत गङ्गाजल जैसे दर्शन, स्पर्श आदि यत्किंचित् सम्बन्धके द्वारा जीवमात्रके तीन कुलोंको पवित्र कर देता है, शालग्रामशिलाकी जलधारा गिरनेपर जैसे जल ग्रहणकारी, जलसेक्ता तथा उनके सङ्गी आदिको कृतार्थ करती है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण-कथाका प्रश्न भी प्रश्नकर्ता, उत्तरदाता और श्रोतृमण्डलीको कृतार्थ करता है । जो श्रीकृष्ण-कथा-सम्बन्धी प्रश्न करते हैं, वे उनका उत्तर सुन पावें या न सुन पावें, प्रश्न करनेमात्रसे ही कृतार्थ हो जाते हैं । श्रोतागण भी प्रश्नोंका उत्तर सुन पावें या न सुन पावें, प्रश्नके श्रवणमात्रसे कृतार्थ हो जाते हैं । जब प्रश्नमें ऐसी शक्ति है तो उत्तर देने और सुननेसे क्या नहीं हो सकता ।

श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्धमें वर्णित है—

श्रुतोऽनुपठितो ध्यात आदृतो वानुमोदितः ।
सद्यः पुनाति सद्धर्मो देवविश्वद्रुहोऽपि हि ॥
(११ । २ । १२)

"'सत्' अर्थात् श्रीभगवद्भक्तोंके द्वारा आचरित श्रवण-कीर्तनादिरूप धर्मके श्रवणसे, कीर्तनसे, ध्यानसे, आदरसे तथा अनुमोदन करनेसे देवद्रोही तथा विश्वद्रोही मनुष्य भी सद्यः पवित्र हो जाता है । अतएव हे महाराज ! तुम धन्य हो । तुम्हारे कारण हम भी धन्य हो गये ।" ॥ १५-१६ ॥

(क्रमशः)

जीवनके प्रत्येक क्षणका सदुपयोग कीजिये !

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

कोई नहीं जानता कि दूसरे क्षण क्या होगा ! मनुष्य कार्यक्रम बनाता है, वर्षोंकी कार्य-प्रणाली सोचकर योजना बनाता है और मृत्यु उसके पीठ-पीछे खड़ी मुस्कराती रहती है उस व्यक्तिके अज्ञानपर, उसकी मूर्खतापर !

कानपुरके एक मित्रने बताया था कि 'पं० श्रीकृष्णदत्त पालीवालने उनसे कहा था कि वे १५ या १६ जूनतक आयेंगे, तब बातें करेंगे । वे उनकी प्रतीक्षा करने लगे, परं अचानक उनका पार्थिव शरीर नहीं रहा और उनके स्वयं आनेके स्थानपर उनकी अस्थियाँ गङ्गा-प्रवाहके लिये १५ जूनको कानपुर आयी थीं ।'

लखनऊके एक डाक्टरने कहा—"८ जून, ६८, शनिवारको दिनमें छः मिनटतक काशी-विद्यापीठके रजिस्ट्रार डा० श्रीविजयशंकर हेवडवालने मुझसे टेलीफोनपर बात की और कहा कि 'कल रविवारको तुमसे मिलूँगा ।'" मैं नहीं जानता था कि उसी रातमें हृदयकी गति बंद हो जानेसे उनकी मृत्यु हो जायगी और मैं उनके निर्जीव शरीरसे मिलूँगा ।

वाराणसीके विद्वान् तथा साधुहृदय मित्र सरदार श्रीसत्यदेवनारायणसिंहने मुझसे कहा था—'तीन-चार दिनमें पत्र भेजूँगा ।' पत्र मिला, उनकी मृत्युका समाचार देनेके लिये ।

जब जीवन इतना अनिश्चित है, तब हम सामनेवाले प्रत्येक क्षणकी चिन्ता न कर दूरकी—आगेकी क्यों सोचते हैं ?

ज्यौतिषी चाहे जन्म-कुण्डली देखकर मरनेकी तारीख तय कर दें, पर ऐसी शायद ही कोई तारीख सही निकलती है । रोने-चिल्लाने तथा लाख प्रयत्न करनेपर भी मृत्युकी निश्चित तिथि नहीं टल सकती । तब यह मूर्ख मानव अपनेको धोखेमें क्यों रखता है ।

'सुसान' नामक एक लेखिकाने अपने एक उपन्यासमें एक पात्रके मुखसे बड़ी ही कीमती बात कहलायी है—

'हाँ, एक चीज मुझे चाहिये । मैं चाहता हूँ कि मैं अपने जीवनके प्रत्येक मिनट तथा सेकंडके प्रति सचेत रहूँ और उनमेंसे प्रत्येकका उपयोग कर लूँ ।' लेकिन क्या हम ऐसा करते हैं ? यदि जीवनके २४ घंटेमेंसे आठ घंटे सोनेमें

निकल गये, चार घंटे नहाने-धोने आदिमें, चार घंटे खाने आदिमें चले गये तो शेष आठ घंटेकी ही क्रियाशील जिंदगी रह गयी, अर्थात् पचास वर्षकी उम्रमेंसे केवल १७ वर्ष ही तो कामके बचे। यदि इस अवधिके भी प्रत्येक क्षणका सदुपयोग हम नहीं करें—प्रत्युत दुरुपयोग करें तो आगे क्या दुर्दशा होगी, कुछ कहा नहीं जा सकता। नीतिशास्त्र कहता है—

अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्॥

(हितोपदेश, प्रस्तावना ३)

अर्थात् 'आदमी अपनेको अजर और अमर समझकर विद्या तथा अर्थका संग्रह करे; पर साथ ही यह समझकर कि मौत केश पकड़े खड़ी है, प्रत्येक क्षणमें धर्मका आचरण करे।'

मौत तो निश्चित है। इससे कोई बच नहीं सकता। किंवदन्ती है कि १००० वर्ष पूर्व चीनके एक राजाने अपने पुरोहितसे अमर होनेका उपाय पूछा। सलाह मिली कि 'एक लाख नवजात शिशुओंको पानीमें डुबाकर बलि दी जाय तो राजा अमर हो जायँगे।' यही किया गया। एक लाख निरीह बच्चे पानीमें डुबा दिये गये। संख्या पूरी होनेके सात दिन बाद राजाको ज्वर चढ़ा; सात दिनकी बीमारीमें वे मर गये। एक लाख निरीह बच्चोंकी हत्याका भीषण पाप सिरपर लेकर वे विदा हुए। नरकोंमें कितनी भीषण यातनाएँ उन्हें भोगनी पड़ी होंगी, उसकी कल्पनासे भयका अनुभव होता है। मान लें कि मनुष्य अमर हो जाय, तब भी क्या उसे सुख मिलेगा? ७०-८० वर्षके पश्चात् जब शरीरका अङ्ग-अङ्ग शिथिल होने लगता है, तब उसे जीवनको ढोना कठिन हो जाता है। अनेकों वृद्ध स्त्री-पुरुष बुढ़ापेकी भीषण यातनाओंसे घबराकर भगवान्से मृत्युकी याचना करते हैं। इसीलिये कहा है—

'मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न तु धूमायितं चिरम्।'

(महाभा० उद्योग० १३३। १५)

'वह आग अच्छी है, जो चाहे मुहूर्तभर जले, पर भभक-कर जले; धुएँसे पूर्ण धीरे-धीरे बहुत देरतक सुलगनेवाली आग निरर्थक है।'

गुरु नानकने कहा है—

'जो आइया से चलसी सभु कोई आई बारिये।'

'पारी-पारीसे सभी चले जायँगे और अपने भले-बुरेका फल अपनेको ही भोगना होगा।'

'मंदा-चंगा आपणा आपे ही कीता पावणा।'

और मरनेके बाद, दो आँसू बहानेके पश्चात् श्राद्ध होगा, भोजन होगा, लोग जायँगे—बतायें आपको मरनेके बाद क्या लाभ होगा?

'पुलाव खायेंगे, अहबाब, फातिहा होगा—।'

(अकबर—शायर)

तब फिर इस चार दिनके जीवनमें हमने प्रत्येक क्षणका किस प्रकार उपयोग किया? क्या यह आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण चिन्ता नहीं है

जीवनके प्रत्येक क्षणका उपयोग करना तो दूर, आज अधिकांश व्यक्तियोंके जीवनका प्रत्येक क्षण दूसरोंको हानि पहुँचानेमें ही व्यतीत होता है। अब वह समय भी चला गया, जब जीवनके संघर्षमें कुछ मौलिक सिद्धान्त याद रखे जाते थे। देवीभागवतके प्रथम स्कन्धमें भगवान् श्रीविष्णुने मधु-कैटभसे कहा था—

श्रान्ते भीते त्यक्तशस्त्रे पतिते बालके तथा।
प्रहरन्ति न वीरास्ते धर्म एष सनातनः॥

(९। २९)

'थके हुए, डरे हुए, हथियार छोड़ देनेवाले, गिरे हुए व्यक्ति तथा बालकपर वीर लोग हाथ नहीं छोड़ते।' पर आज स्थिति ठीक इसके विपरीत है। आज दुर्बलपर ही पहले आघात होता है।

प्रश्न हो सकता है कि 'प्रत्येक क्षणका अर्थ क्या होगा?' इसका समाधान यह है कि 'जाग्रत्-अवस्थामें जितने क्षण हैं, हम उनका सदुपयोग करें। यदि हमने अपनी जाग्रत्-अवस्थाके समयका सदुपयोग किया तो सोनेके समयका अपने आप सदुपयोग हो जायगा। कारण, मनुष्य जाग्रत्-अवस्थामें जिस विषयमें तल्लीन रहता है, स्वप्नमें उसीका चिन्तन विशेष रूपसे होता है। मरनेके बाद चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं है। मनुष्य धर्मके सभी कार्योंमें, क्रियाओंमें पड़े अथवा न पड़े, उसे केवल इतना ही ध्यान रखना चाहिये कि भगवान्‌के चरणोंमें अपनेको अर्पण कर देनेके बाद उसका प्रत्येक कार्य तथा उसका फल भगवान्‌के जिम्मे है। गीता(१२। ७)में भगवान्‌ने स्वयं ऐसे व्यक्तिके लिये, ऐसे भक्तके लिये कहा है—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।

'मैं ऐसे भक्तका मृत्यु-संसार-सागरसे उद्धार करता हूँ।' अतएव धर्मके विषयमें यदि हम केवल श्रीकृष्णार्पण-बुद्धिसे ही काम लें तो बहुत है। ऐसी बुद्धिसे काम लेनेवाला कहता है—

'यद् यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ।'

'हे शम्भो ! मैं जो-जो भी कर्म करता हूँ, वह सारा-का-सारा तेरी आराधना ही है।' यह बड़े ही आत्मविश्वास तथा आस्थाकी वस्तु है। जिसने अपने सम्पूर्ण कर्मोंको भगवान्का आराधन मान लिया, वह निन्दनीय कर्म करनेपर उतारू होते हुए भी उसे करनेमें हिचकेगा । उसका मन उसे धिक्कारेगा—इस निन्दनीय कर्मके द्वारा वह भगवान्का आराधन कैसे करेगा ? अपने कर्मोंको भगवान्का आराधन माननेवाला व्यक्ति आदि शंकराचार्यके शब्दोंमें—सबके हितके लिये क्रियाशील होगा—

'वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः ।'

(विवेकचूड़ामणि ३९)

'जिस प्रकार वसन्त ऋतु सबके लिये सुखदायिनी होती है, उसी प्रकार उस संतके कर्म भी सबके लिये सुखदायक होंगे ।'

प्रत्येक क्षणके सदुपयोगके लिये जडवत् अर्थात् निष्क्रिय बननेकी आवश्यकता नहीं है । परब्रह्म निष्क्रिय है—वह न कर्ता है न अकर्ता किंतु महाशक्तिके संयोगसे उसमें पौरुष प्राप्त हो जाता है और वही पौरुष समूचे संसारका कारण भूततत्त्व है । उस पौरुषका—महाशक्तिका हम अपने जीवनके प्रत्येक क्षणमें क्या उपयोग कर रहे हैं, इसपर विचार करना चाहिये । जब हम महाशक्तिका उपयोग करने लग जायँगे, तभी हमारा कल्याण है । बिना पुरुषार्थके भाग्य भी सिद्ध नहीं होता—

यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत् ।
एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति ॥

(हितोपदेश, प्रस्तावना ३९)

'जिस प्रकार एक पहियेसे रथ नहीं चल सकता उसी प्रकार बिना पुरुषार्थके भाग्य सिद्ध नहीं होता ।'

किंतु पुरुषार्थके साथ धर्म तथा कर्तव्यकी भावना भी आवश्यक है । जब यह निश्चित है कि—

चलं चित्तं चलं वित्तं चले जीवनयौवने ।
चलाचले हि संसारे धर्म एको हि निश्चलः ॥

'चित्त चलायमान है, धन चलायमान है, जीवन और जवानी भी चलायमान है । इस चलचलीकी दुनियामें धर्म ही एकमात्र निश्चल वस्तु है ।' तो फिर हम चलायमान चीजोंके चक्करमें निश्चल वस्तुको क्यों भूल जाते हैं ?

कोई पूछ सकता है कि 'धर्म है क्या वस्तु ?' धर्मका अर्थ अंग्रेजी शब्द 'रेलिजन' (Religion) नहीं है । यह बड़ा व्यापक तथा अपने ढंगका अनोखा शब्द है । इसकी व्याख्या बड़ी विस्तृत है । हम उस व्याख्याके चक्करमें न पड़कर केवल दो अर्थ ही समझ लें तो हमारा काम यहाँ चल जायगा—

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।'

(वैशेषिक० १ । १ । २)

'यमार्याः क्रियमाणं तु प्रशंसन्त्यागमवेदिन. स धर्मः ॥'

"जिससे अभ्युदय तथा कल्याणकी सिद्धि हो, वह 'धर्म' है।" "जिस किये जानेवाले कार्यकी आर्यलोग (पण्डित) तथा साधु लोग प्रशंसा करें, वही 'धर्म' है ।" स्पष्ट है कि चोरी करनेसे अभ्युदय तथा कल्याण नहीं होता । चोरी करनेकी कला-की प्रशंसा साधुसमाज नहीं करता । अतएव बुरा काम धर्मकी श्रेणीमें नहीं आ सकता । यदि हम केवल इतनी ही व्याख्या याद रखें कि जिस कार्यकी आर्यलोग प्रशंसा करते हैं, वह 'धर्म' है, तो हमारे जीवनका प्रत्येक क्षण ऐसे ही धर्मके प्रतिपालनमें बीतने लगेगा ।

रोगी और बीमार रहकर कोई जीना नहीं चाहता, पर शरीरको रोग लगे ही रहते हैं । किंतु रोगी रहते हुए भी मनुष्य स्वस्थ रह सकता है । वैद्यक शास्त्रका ही वचन है—

'शरीरस्य चित्तस्य निर्विकारा स्थितिरेव स्वास्थ्यम् ।'

'शरीर तथा चित्तकी निर्विकार स्थिति ही स्वास्थ्य है ।' हम शरीरके रोगपर चाहे काबू न पा सकें, पर मनको तो नीरोग रख ही सकते हैं । चित्तकी निर्विकार स्थितिको 'स्वस्थ-स्थिति' कहते हैं । जीवनके प्रत्येक क्षणमें यदि मनको असत्य, पाप, धोखा, क्रूरता आदिसे दूर रखा जाय तो कितना बड़ा कल्याण होगा ।

यह नहीं भूलना चाहिये कि हम उस परब्रह्मके अंश हैं, उसीमें हमको मिलना है । जबतक अलग हैं, तभीतक दुःख झेल रहे हैं । अतएव प्रत्येक क्षण हमको अपने परम रूपमें मिलनेकी ही बात सोचनी चाहिये तथा उसीकी सिद्धिके लिये काम करने चाहिये । हमें संतोंके इन वचनोंपर सदा ध्यान देना चाहिये—

कहा भरोसो देह को बिनसि जात छिन माहिं ।
साँस-साँस सुमरन करो और जतन कछु नाहिं ॥
साँस सुफल सोइ जानिये, हरि-सुमिरन में जाय ।
और साँस यों ही गये, करि-करि बहुत उपाय ॥
स्वास-स्वास भूले नहीं, हरि का भय अरु प्रेम ।
यही परम जय जानिये देत कुसल अरु छेम ॥

संत-प्रकृतिका निरूपण तथा सत्सङ्गकी महिमा

(लेखक—आचार्य पं० श्रीगङ्गाधरजी मिश्र)

जिस प्रकार जीवनकी चरम अधोगतिको हम खल-प्रवाहके रूपमें देखते हैं, उसी प्रकार मानव-जीवनकी चरम अवस्थाकी परिणति उसकी संत-प्रकृतिसे मिलती है। जीवनके आलोक-स्वरूपको 'संत'के नामसे अभिहित किया जा सकता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने अपने सामाजिक जीवनमें ऐसे लोगोंको संत-जैसी प्रतिष्ठाका भोग करते देखा था, जो वास्तवमें दम्भी थे, जिनके प्रत्येक कार्यका आरम्भ असत्य-निष्ठासे होता था और जिनमें सात्त्विक आस्तिकताका सर्वथा अभाव था। मानसकी निम्नलिखित पंक्तिमें स्पष्टतः कहा गया है—

'मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहुँ संत कहइ सब कोई॥'

(मानस ७। ९७। २)

इसी प्रकार उन्होंने 'वैराग्य-संदीपनी'में कहा है कि 'मायाका त्याग करनेवाले संतोंकी संख्या बहुत ही कम है। कलियुगमें कामी और दुष्ट प्राणियोंकी संख्या बहुत अधिक है'—

बिरले बिरले पाइए, माया त्यागी संत।
तुलसी कामी कुटिल कलि, केकी काक अनंत॥

(वैराग्य-संदीपनी ३२)

संत-जीवनसे ज्ञान, वैराग्य एवं तपस्विताकी प्रतीति प्राप्त होती है। गोस्वामीजीके युगमें प्रायः वे ही संत, ज्ञानी, वैरागी और तपस्वी माने जाते थे, जो आचार-शून्य तथा वेद-मार्गके उपेक्षक होते थे तथा जो नख और बड़ी-बड़ी जटाएँ रखकर जनताको सदैव प्रभावित करनेमें समर्थ होते थे—

'नहिं मान पुरान न बेदहि जो।
हरि सेवक संत सही कलि सो॥'

(मानस ७। १००। छं० ४)

निराचार जो श्रुति पथ त्यागी। कलिजुग सोइ ग्यानी सो बिरागी॥
जाके नख अरु जटा बिसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला॥

(मानस ७। ९७। ४)

उन दिनों ब्रह्मज्ञानकी चर्चाद्वारा समाजको प्रभावित करनेवालोंकी कमी नहीं थी। इनमेंसे अधिकांश स्वार्थ और लोभके सागरमें डूबे हुए थे—

ब्रह्म ग्यान बिनु नारि नर कहहिं न दूसरि बात।
कौड़ी लागि लोभ बस करहिं बिप्र गुर घात॥

[मानस ७। ९९ (क)]

इसी प्रकार सिद्धों एवं योगियोंकी भी ऐसी परम्परा थी, जिससे उस युगका सामान्य जीवन प्रभावित था। इन सिद्धों एवं योगियोंकी वेष-भूषा भी भयानक होती थी—

असुभ बेष भूषन धरें भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माहिं॥

[मानस ७। ९८ (क)]

ऐसी स्थितिमें साधना-क्षेत्रके गिरते हुए उन आदर्शोंमें नये आदर्श-जीवनकी प्रतिष्ठा गोस्वामीजीने आवश्यक समझी। 'मानस'में इसका परिचय कराते हुए उन्होंने कहा है कि 'संतकी प्रकृति हंसके समान गुणग्राहिणी होती है। गुण-दोषयुक्त संसाररूपी दुग्धमें दोषरूपी जलको अलग करनेमें वह सर्वथा समर्थ है'—

जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार॥

(मानस १। ६)

इस प्रकार 'मानस'के आरम्भमें संत-प्रकृतिकी पहली विशेषता उसकी गुण-ग्राहकतामें दिखायी देती है। संत-प्रकृतिकी वन्दना करते हुए गोस्वामीजीने बतलाया है कि संतजन शत्रु-मित्र-भावसे ऊपर होते हैं। वे सरल-हृदय तथा संसारके हितचिन्तक होते हैं—

'बंदउँ संत समान चित हित अनहित नहिं कोइ।'

[मानस १। ३ (क)]

'संत' शब्दका प्रयोग आज जिस अर्थमें हो रहा है, वह नितान्त भ्रामक है। जो लोग वैदिक और पौराणिक आदर्शोंकी निन्दा करते हैं, जन-स्वीकृत मर्यादाओंका तिरस्कार करते हैं तथा सांसारिक मङ्गल-कामनाको श्मशान-वैराग्यके रूपमें परिवर्तित करना चाहते हैं, सगुण-ब्रह्मकी उपेक्षा कर साहंकार निर्गुणकी स्थापना ही जिनको प्रिय है, आज वे ही संतके नामसे विज्ञापित किये जा रहे हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीके समयमें 'संत' शब्दके दुरुपयोगकी जैसी पराकाष्ठा थी,

वैसी ही आज भी है। ऐसी स्थितिमें गोस्वामीजीकी आदर्श संत-निष्ठाका परिचय नितान्त आवश्यक है।

संत-जीवनका बड़प्पन इस बातमें है कि वे बुराई करनेवालोंकी भी भलाई करके अपनी अपार सहिष्णुताका परिचय देनेमें समर्थ हों—

'उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥'

(मानस ५। ४०। ३½)

उन्हीं प्राणियोंको, जो प्रेमका व्रत लेकर सर्वदा निश्छल हृदयसे भगवान्के चरण-कमलकी सेवा करते हैं तथा मानापमानमें भी समान रहते हैं, 'संत' कहा जा सकता है—

करि प्रेम निरंतर नेम लिएँ। पद पंकज सेवत सुद्ध हिएँ॥
सम मानि निरादर आदरही। सब संत सुखी बिचरंति मही॥

(मानस ७। १३। ८)

"जो मनुष्य विषय-भोगमें बेसुध नहीं होते तथा शील एवं सद्गुणोंके कोष होते हैं, जो दूसरोंके दुःखसे दुःखी तथा दूसरोंके सुखसे सुखी दिखायी देते हैं, जिनके कोई शत्रु नहीं होते, जो लोभ, क्रोध, हर्ष एवं भयको त्याग देते हैं, जिनके हृदय अत्यन्त कोमल होते हैं, जिनकी अनुकम्पा-दृष्टि असहायजनोंपर सर्वदा बनी रहती है; मन, वचन, कर्मसे जो निश्छलतापूर्वक भगवान्की भक्ति करते हैं तथा स्वयं सम्मान न चाहते हुए भी दूसरोंको सम्मान देनेमें जिन्हें आनन्दका अनुभव होता है, उन्हें भगवान् राम अपने प्राणोंके समान समझते हैं। जो काम और भयसे दूर रहते हैं, भगवान्के नामका स्मरण करनेमें तन्मय रहते हैं, जिनमें शान्ति, विरक्ति एवं विनम्रता दिखायी देती है, जो प्रसन्नताके रूप होते हैं, जिनमें शीतलता, सरलता, सौहार्द तथा ब्राह्मण-चरणानुरक्ति दिखायी देती है, उन्हें ही सच्चा संत समझना चाहिये। जो शम, दम एवं नियमके साथ नीति-पथका निर्वाह करते हैं, कठोर वाणी जिनके मुखसे कभी नहीं निकलती, उन्हें ही 'संत' कहलानेका गौरव प्राप्त होता है"—

बिषय अलंपट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख देखे पर॥
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी॥
कोमल चित दीनन्ह पर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया॥
सबहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी॥
बिगत काम मम नाम परायन। सांति बिरति बिनती मुदितायन॥
सीतलता सरलता मयत्री। द्विज पद प्रीति धरम जनयत्री॥
ए सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहु तात संत संतत फुर॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥

(मानस ७। ३७। १-४)

"मन, वचन, कर्मसे दूसरोंकी भलाई करना ही संत-जनोंका सहज स्वभाव होता है।...वे दूसरेका हित करते हुए कठोर-से-कठोर दुःख भी सहन कर लेते हैं। जिस प्रकार भोजका वृक्ष अपने शरीरकी छालको (दूसरोंकी भलाईके लिये) दान करते हुए कठोर कष्ट झेलता है, उसी प्रकार संत भी दूसरोंके हितके लिये दुःख सहते हैं। संतके हृदयको यदि कोई कवि मक्खनके समान कोमल कहता है तो वास्तवमें उसका कथन सत्य नहीं है। मक्खन तो अपने ही तापसे द्रवित होता है, पर संतजन दूसरोंके तापसे द्रवित होते हैं"—

पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥

× × ×

भूर्ज तरू सम संत कृपाला। परहित निति सह बिपति बिसाला॥

(मानस ७। १२०। ७-८)

संत बिटप सरिता गिरि धरनी। पर हित हेतु सबन्ह कै करनी॥
संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह परि कहै न जाना॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥

(मानस ७। १२४। ३-४)

संत-प्रकृतिकी यह सहज लोकमङ्गलकारिणी निष्ठा उन्हें चलता-फिरता तीर्थराज बना देती है—

'मुद मंगलमय संत समाजू। जो जग जंगम तीरथराजू॥'

(मानस १। १। ३½)

गोस्वामीजीके संत उन संतोंकी परम्परासे बहुत ऊपर हैं, जो सामाजिक आचार-विचारोंकी अवहेलनाके लिये उलटवासियाँ सुनाया करते हैं। उनके संत जितने शीलवान् हैं, उतने ही सहिष्णु भी हैं। उनके साहचर्यमें रहनेवाले जन स्वयं संत बन जाते हैं। उनकी वाणीमें इतनी कोमलता होती है, जैसे अमृतकी धारा बह रही हो। वे कटूक्तियोंसे लोगोंके हृदयको नहीं बेधते। सम्भवतः यही कारण है कि वे साक्षात् भगवान्की मूर्तिके रूपमें दिखायी देते हैं। 'वैराग्य-संदीपनी' १७से २३तकमें इसी संत-स्वभावका वर्णन है—

सील गहनि सबकी सहनि, कहनि हीय मुख राम।
तुलसी रहिए एहि रहनि, संत जनन को काम॥

निज संगी निज सम करत, दुरजन मन दुख दून ।
मलयाचल हैं संतजन, तुलसी दोष बिहून ॥
कोमल बानी संत की, स्त्रवत अमृतमय आइ ।
तुलसी ताहि कठोर मन, सुनत मैन होइ जाइ ॥
अनुभव सुख उतपति करत, भव-भ्रम धरै उठाइ ।
ऐसी बानी संत की, जो उर भेदै आइ ॥
सीतल बानी संत की, ससिहू ते अनुमान ।
तुलसी कोटि तपन हरै, जो कोउ धारै कान ॥
तन करि मन करि बचन करि, काहू दूषत नाहिं ।
'तुलसी' ऐसे संतजन, रामरूप जग माहिं ॥

इसीलिये संत-जनोंका दर्शन भगवद्दर्शनके समकक्ष मानते हुए 'विनयपत्रिका' (५७ । ९)में कहा गया है—

'संत-भगवंत अंतर निरंतर नहिं, किमपि मति मलिन कह दास तुलसी ॥'

विना भगवत्कृपाके संतजनोंका दर्शन किसीको सुलभ नहीं होता है । इस सत्यका परिचय देते हुए विभीषणने हनुमान्‌जीसे कहा है—

'बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता ॥'
(मानस ५ । ६ । २)

गोस्वामी तुलसीदासजीके संत मानव-जीवनके चरम उच्चादर्शके आलोक-स्वरूप ही हैं, जिनकी संगतिसे मनुष्य-जीवनमें आमूल परिवर्तन सहज सम्भव है । सम्भवतः यही कारण है कि उन्होंने संत-महिमाके साथ-साथ सत्सङ्गकी महिमाका भी हृदयसे गौरवगान किया है ।

'रामायण'के आरम्भमें सत्संगतिरूपी तीर्थराजके स्नानके अनुपम प्रभावका परिचय देते हुए गोस्वामीजीने कहा है कि 'इस अपूर्व सुयोगका सद्यः प्रभाव दिखायी देता है । कौवे कोकिल बन जाते हैं, बक हंस बन जाते हैं । वाल्मीकि, नारद तथा अगस्त्यने सत्संगतिके प्रभावका परिचय अपने मुखसे दिया है । संसारमें जब किसीको कहीं बुद्धि, कीर्ति, मुक्ति, विभूति और भलाईकी प्राप्ति हुई है तो उसे सत्सङ्गका ही प्रभाव समझना चाहिये । संसारमें अथवा वेदोंमें इसके अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं है । बिना सत्सङ्गके मनुष्यमें विवेक नहीं होता और भगवान्‌की कृपाके बिना सत्सङ्ग भी प्राप्त नहीं होता है । समस्त आनन्द और कल्याणकी जड़ सत्संगति ही है । सत्सङ्गकी प्राप्ति ही फल है और सब साधन फूल हैं । दुष्ट प्राणी भी सत्संगतिको प्राप्तकर वैसे ही सुधर जाते हैं, जैसे पारसका स्पर्श करनेसे लोहा सोना बन जाता है'—

मज्जन फल पेखिअ ततकाला । काक होहिं पिक बकउ मराला ॥
सुनि आचरज करै जनि कोई । सतसंगति महिमा नहिं गोई ॥
बालमीक नारद घटजोनी । निज निज मुखनि कही निज होनी ॥
जलचर थलचर नभचर नाना । जे जड़ चेतन जीव जहाना ॥
मति कीरति गति भूति भलाई । जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई ॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ । लोकहुँ बेद न आन उपाऊ ॥
बिनु सतसंग बिबेक न होई । राम कृपा बिनु सुलभ न सोई ॥
सतसंगत मुद मंगल मूला । सोइ फल सिधि सब साधन फूला ॥
सठ सुधरहिं सतसंगति पाई । पारस परस कुधात सुहाई ॥
(मानस १ । २ । १—४½)

भगवान् राम सत्सङ्गके सत्प्रभावकी प्रतीति करानेके लिये कहते हैं—

बड़े भाग पाइब सतसंगा । बिनहिं प्रयास होहिं भव भंगा ॥
संत संग अपबर्ग कर कामी भव कर पंथ ।
कहहिं संत कबि कोबिद श्रुति पुरान सदग्रंथ ॥
(मानस ७ । ३२ । ४, ७ । ३३)

भगवान्‌की भक्ति समस्त सुखोंकी जनयित्री होती है, किंतु वह बिना सत्सङ्गके किसीको नहीं मिलती है । पुण्यके आधिक्यसे ही संतोंकी प्राप्ति होती है और संतोंकी संगतिसे मनुष्य जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त हो जाता है । भगवान् रामने अपना ऐसा ही अभिमत व्यक्त किया है—

भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी । बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी ॥
पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता । सतसंगति संसृति कर अंता ॥
(मानस ७ । ४४ । ३)

भगवान् शंकरने गरुडको समझाया है कि 'जिन्हें बहुत समयतक सत्सङ्गका सुयोग मिलता है, उनके सारे संदेह नष्ट हो जाते हैं''''बिना सत्सङ्गके भगवत्कथा श्रुतिगोचर नहीं होती है और भगवत्कथाके बिना मोह भी दूर नहीं होता है । मोहके नष्ट हुए बिना भगवान्‌के चरणोंमें अनन्य प्रेम नहीं होता है'—

तबहिं होइ सब संसय भंगा । जब बहुकाल करिअ सतसंगा ॥
× × × ×
बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग ।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग ॥
(मानस ७ । ६० । २; ७ । ६१)

संतोंकी प्राप्तिकी दुर्लभताकी ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए गरुड काकभुशुण्डिसे कहते हैं—

'संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही । चितवहिं राम कृपा करि जेही ॥'
(मानस ७ । ६८ । ३½)

संत-जीवनकी प्रभावातिशयता एवं उनकी संगतिकी अद्भुतताका परिचय कराते हुए भुशुण्डिने गरुडसे कहा है कि 'राम समुद्र हैं, गम्भीर सज्जन बादल हैं, जो रामरूपी

जलको सुन्दर रूपमें सर्वसुलभ बनाते हैं। भगवान् यदि चन्दनके वृक्ष हैं तो संतजन वायु हैं, जो चन्दनकी सुगन्धको सबके निकट पहुँचा देते हैं। भगवान्‌की सुन्दर भक्ति ही सब साधनोंका सुफल है, जो संतोंके बिना कभी किसीको प्राप्त नहीं होती। ऐसा सोचकर जो लोग सत्सङ्ग करते हैं, उनके लिये रामभक्ति सहज सुलभ बन जाती है।...वास्तवमें एक क्षणके लिये एक बार भी किसी सज्जन पुरुषकी यदि संगति प्राप्त होती है तो उसे संसारमें दुर्लभ लाभ समझना चाहिये'—

राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि संत समीरा॥
सब कर फल हरिभगति सुहाई। सो बिनु संत न काहूँ पाई॥
अस बिचारि जोइ कर सतसंगा। राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा॥
× × × ×
सत संगति दुर्लभ संसारा। निमिष दंड भरि एकउ बारा॥
(मानस ७। ११९। ८½–९½; ७। १२२। ३)

इसी सत्यको शंकरजीने पार्वतीको समझाते हुए कहा है कि 'वह क्षण धन्य होता है, जब मनुष्यको सत्सङ्गका अवसर प्राप्त हो जाता है। जिन लोगोंको सज्जनोंकी संगति अत्यन्त प्रिय लगती है, वे ही सज्जन राम-कथाके कहने और सुननेके अधिकारी होते हैं'—

धन्य घरी सोइ जब सतसंगा। (मानस ७। १२६। ४)
× × × ×
रामकथा के तेइ अधिकारी। जिन्ह कें सत संगति अति प्यारी॥
(मानस ७। १२७। ३)

समाजमें जब खलोंकी संख्या अत्यधिक बढ़ जाती है, तब मनुष्यको सज्जनोंको ढूँढ़ने और पहचाननेमें भी बड़ी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है। ऐसी दशामें सज्जनोंका साथ मिलनेसे भटककर ठोकरें खानेवाला मनुष्य अपने जीवनका वह मार्ग पहचान लेता है, जिससे इहलौकिक और पारलौकिक—दोनों ही प्रकारकी सिद्धियोंका वह स्वामी बन जाता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने सत्संगतिकी जिस महिमाका उद्घाटन किया है, वह किसी भी गिरते हुए राष्ट्र अथवा समाजमें अभ्युदयका पथ प्रशस्त कर सकता है और अधोगति ऊर्ध्वगतिके रूपमें परिवर्तित हो सकती है। अस्तु, गोस्वामीजीका संत-परिचय एवं सत्सङ्गका सत्प्रभाव-निरूपण दोनों ही विचारणीय एवं अनुकरणीय हैं।

चित्तको प्रबोध

चेतश्चञ्चलतां विहाय पुरतः संधाय कोटिद्वयं तत्रैकत्र निधेहि सर्वविषयानन्यत्र च श्रीपतिम्।
विश्रान्तिर्हितमप्यहो क्व नु तयोर्मध्ये तदालोच्यतां युक्त्या वानुभवेन यत्र परमानन्दश्च तत् सेव्यताम्॥
पुत्रान् पौत्रमथ स्त्रियोऽन्ययुवतीर्वित्तान्यथोऽन्यद्धनं भोज्यादिष्वपि तारतम्यवशतो नालं समुत्कण्ठया।
नैतादृग्यदुनायके समुदिते चेतस्यनन्ते विभौ सान्द्रानन्दसुधार्णवे विहरति स्वैरं यतो निर्भयम्॥
काम्योपासनयार्थयन्त्यनुदिनं केचित् फलं स्वेप्सितं केचित् स्वर्गमथापवर्गमपरे योगादियज्ञादिभिः।
अस्माकं यदुनन्दनाङ्घ्रियुगलध्यानावधानार्थिनां किं लोकेन दमेन किं नृपतिना स्वर्गापवर्गैश्च किम्॥
आश्रितमात्रं पुरुषं स्वाभिमुखं कर्षति श्रीशः। लोहमपि चुम्बकाश्मा सम्मुखमात्रं जडं यद्वत्॥
अयमुत्तमोऽयमधमो जात्या रूपेण सम्पदा वयसा। श्लाघ्योऽश्लाघ्यो वेत्थं न वेत्ति भगवाननुग्रहावसरे॥
(प्रबोधसुधाकर २४८–२५२)

अरे चित्त! चञ्चलताको छोड़कर सामने तराजूके दोनों पलड़ोंमेंसे एकमें सब विषयोंको और दूसरेमें भगवान् श्रीपतिको रख और इसका विचार कर कि दोनोंके बीचमें विश्राम और हित किसमें है; फिर युक्ति और अनुभवसे जहाँ परमानन्द मिले, उसीका सेवन कर। पुत्र, पौत्र, स्त्रियाँ, अन्य युवतियाँ, अपना धन, परधन और भोज्यादि पदार्थोंमें न्यूनाधिक भाव होनेसे कभी इच्छा शान्त नहीं होती, किंतु जब घनानन्दामृतसिंधु विभु यदुनायक श्रीकृष्ण चित्तमें प्रकट होकर इच्छापूर्वक विहार करते हैं, तब यह बात नहीं रहती; क्योंकि उस समय चित्त स्वच्छन्द एवं निर्भय हो जाता है। कुछ लोग प्रतिदिन सकाम उपासनासे मनोवाञ्छित फलकी प्रार्थना करते हैं और कोई यज्ञादिसे स्वर्ग और योगादिसे मोक्षकी कामना करते हैं, किंतु यदुनन्दनके चरणयुगलोंके ध्यानमें सावधान रहनेके इच्छुक हमको लोक, इन्द्रियनिग्रह, राजा, स्वर्ग और मोक्षसे क्या प्रयोजन है? श्रीपति श्रीकृष्ण अपने आश्रित पुरुषको अपनी ओर वैसे ही खींचते हैं, जैसे सामने आये हुए जड लोहेको चुम्बक अपनी ओर खींचता है। कृपा करते समय भगवान् यह नहीं विचारते कि जाति, रूप, धन और आयुसे यह उत्तम है या अधम, स्तुत्य है या निन्द्य।

युगधर्म—भगवान्‌की भक्ति एवं नाम-कीर्तन

[लेखक—डा० श्रीरवीन्द्रप्रताप राव, एम्०एस-सी०, पी-एच्०डी०, पी-एच्० डी० (एडेलेड)]

कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च ।
नन्दगोपकुमाराय गोविन्दाय नमो नमः ॥
कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने ।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः ॥

भगवान् श्रीकृष्ण ही साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर हैं, ऐसा सभी सद्-ग्रन्थ एवं संत-महात्मा कहते हैं। स्वयं ब्रह्माजीने कहा है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः ।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम् ॥
(ब्रह्मसंहिता ५ । १)

'श्रीकृष्ण ही परमेश्वर हैं। उनका श्रीविग्रह सच्चिदानन्द-मय है। वे सबके आदिकारण हैं। उनका आदि कोई नहीं है। गोशब्द-वाच्य गौओंके, पृथ्वीके तथा इन्द्रियोंके स्वामी; रक्षक एवं नियन्ता वे ही गोविन्द हैं। वे योगेश्वर श्रीकृष्ण ही सभी कारणोंके कारण हैं।'

सृष्टिके प्रथम पुरुष एवं विधाता श्रीब्रह्माजीद्वारा भगवान्‌के विषयमें इतने स्पष्टरूपसे बताये जानेपर भी श्रद्धालु लोगोंका भगवान्‌की खोजमें इधर-उधर भटकना और मत-मतान्तरोंके जंगलमें खो जाना अत्यन्त ही आश्चर्यजनक एवं खेदकी बात है। ब्रह्माजीको साक्षात् भगवान्‌के ही द्वारा ज्ञान मिला, अतः वह अत्यन्त प्रामाणिक है। उसके द्वारा श्रद्धालु, विश्वासी एवं शुद्ध बुद्धिवाले मनुष्योंके लिये भगवान्‌के यथार्थ तत्त्वको समझ लेना कठिन नहीं है।

श्रीकृष्णका व्यक्तित्व

परमप्रभु श्रीकृष्णका व्यक्तित्व परम अद्भुत है। उनको 'मदनमोहन' कहा जाता है; क्योंकि वे कामदेवके भी मनको मोह लेते हैं। इनका दिव्य शरीर युवावस्थाके शाश्वत सौन्दर्यका महासागर है और इसे सौन्दर्यकी थिरकती लहरोंके रूपमें देखा जा सकता है। श्रीकृष्ण समग्र ऐश्वर्य, सम्पूर्ण धर्म, पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्रीसौन्दर्य, पूर्ण ज्ञान एवं पूर्ण वैराग्यके एकमात्र आश्रय हैं। अनुपम एवं अद्भुत सौन्दर्यकी निधि मुरलीमनोहरकी मुरलीकी ध्वनिमें एक प्राणोन्मादक आवेग है। भगवान् श्रीकृष्णका मुख तो लावण्यका महासमुद्र होनेके कारण मधुर है ही; उनकी मुसकान और भी मधुरतर है और उनके सम्पूर्ण शरीरकी आभा मधुरतम है। यही कारण है कि भक्तोंके मनको ये लीलाविहारी श्रीकृष्ण सदैव अपनी ओर आकर्षित करते रहते हैं। श्रीकृष्ण वृन्दावनमें विचरण करते हुए जब अपनी वंशी बजाने लगते हैं, उस समय समस्त जीवधारी पूर्णानन्दकी अनुभूतिमें डूब जाते हैं, उन्हें रोमाञ्च हो आता है और उनकी आँखोंसे अश्रु प्रवाहित होने लगते हैं। श्रीकृष्णकी मुरलीकी यह मनोहर ध्वनि जब सुनायी पड़ती है तो भक्तकी विचारशक्ति भौतिक जगत्‌को वेध करके आध्यात्मिक जगत्‌में प्रविष्ट हो जाती है। जिस समय यह वंशी-ध्वनि कानोंमें अमृतरस उड़ेलती है, उस समय दूसरी कोई ध्वनि नहीं सुनायी पड़ती। इस ध्वनिके श्रवण-गोचर होनेपर अत्यन्त सुखकी अनुभूति होती है, जिसका वर्णन करना असम्भव है। यही कारण है कि अपने पारिवारिक जीवनमें गोपियाँ उनसे पूछे गये प्रश्नोंका समुचित उत्तर नहीं दे पाती थीं; क्योंकि उनके कान तो मुरलीकी मधुर तानके अमृत-पानमें संलग्न रहते थे।

श्रीकृष्णके माधुर्यामृतरसका पान करनेके लिये बड़ी तपस्या एवं साधनाकी आवश्यकता है। भगवत्प्रेमी श्रद्धालु जन, जो सदैव भगवान् श्रीकृष्णकी भक्तिपूर्वक सेवा (Devotional service)में लगे रहते हैं, वे ही उन भगवान्‌के वास्तविक सौन्दर्यका साक्षात्कार कर सकते हैं और उस गोलोक वृन्दावन-धाममें जानेके अधिकारी हो सकते हैं, जहाँ अपने नेत्रोंके द्वारा उन्हें सदैव श्रीकृष्णके सुन्दर मुख तथा मधुर मुसकानका आनन्द सुलभ होता है।

भक्ति ही सर्वोत्तम मार्ग

भगवान्‌के तत्त्वको समझने और उनतक पहुँचनेके लिये ज्ञान, ध्यान, योग, तप, यज्ञ एवं निष्काम कर्म आदि अनेक साधन बताये गये हैं; परंतु भगवत्प्राप्तिका सर्वोत्कृष्ट साधन भक्ति ही है। श्रीशंकराचार्य, संत ज्ञानेश्वर, श्रीरामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द-प्रभृति महापुरुष ज्ञानी होते हुए भी भक्तिमार्गके प्रचारक थे। मीराँबाई, सूरदास, तुलसीदास, जीव गोस्वामी, रूप गोस्वामी, सनातन गोस्वामी आदि अनेक संत-महात्माओंने भक्तिकी ही सर्वश्रेष्ठताको परिपुष्ट किया है और बताया है कि 'भवसागरसे पार उतरनेके लिये भक्ति एक दिव्य सेतु है।'

इन सब बातोंसे स्पष्ट है कि परमज्ञान (Absolute Knowledge)की अनुभूतिका मूलस्रोत भक्ति ही है। इसीके द्वारा जीव अपने गन्तव्य धाम गोलोक-वृन्दावनतक पहुँचकर स्वयं भी भगवत्-सदृश सच्चिदानन्दविग्रह हो जाता है और अखण्ड आनन्दसिन्धुमें अवगाहन करने लग जाता है।

भक्तश्रेष्ठ नारदमुनिने भी कहा है—

तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः।
नृणां येनेह विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वरः॥
(श्रीमद्भागवत ४।३१।९)

'वही जन्म, वे ही कर्म, वही आयु, वही मन तथा वही वाणी सफल है, जिसके द्वारा यहाँ भगवान् श्रीहरिकी भक्तिपूर्वक सेवा की जाती है।' साक्षात् परमेश्वर श्रीकृष्णने अर्जुनको विराट् रूपका दर्शन करानेके बाद कहा था—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
(गीता ११।५४)

'तुझे मेरे इस विराट् स्वरूपका जो दर्शन हुआ, वह न तो वेद पढ़नेसे सम्भव है और न तप या यज्ञ आदि करनेसे ही हो सकता है।'

अन्य साधनोंद्वारा भगवान्‌से सीधा सम्पर्क नहीं हो पाता। इसीलिये भक्तशिरोमणि अर्जुनसे भगवान्‌ने बताया है—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥
(गीता १२।८)

'तुम अपने मनको मुझमें ही लगाओ, अपनी बुद्धिको मेरे स्वरूपमें ही स्थिर करो। ऐसा करनेके पश्चात् तुम मुझमें ही निवास करोगे, इसमें संशय नहीं है।'

संशयात्मक बुद्धि परमार्थमें रुकावट डालती है, अतएव दृढ़ निश्चयपूर्वक अपने मनको भगवान् श्रीकृष्णके श्रीचरणोंमें लगा देना चाहिये। सर्वत्र भगवान्‌को देखने और अहंता-ममतासे सम्बद्ध भावोंको छोड़ देनेपर निश्चय ही श्रीहरि मिलते हैं।

भगवान् भक्तोंसे प्रेम करते हैं

जो भी भगवान् श्रीहरिके शरणागत हो जाता है और तन, मन, जोवन, लोक-परलोक—सभी उनको समर्पित कर देता है तथा भगवान्‌के अतिरिक्त अपना कहनेके लिये कुछ भी जिसके पास नहीं रहता, ऐसे भक्तोंके पीछे-पीछे भगवान् सदा घूमते रहते हैं।

साधारणतया लोगोंमें यह भ्रम फैला है कि भगवान् उनकी ओर ध्यान नहीं देते, किंतु ऐसी बात नहीं है। गीतामें उनके वचन हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(९।२२)

'अनन्यभावसे जो लोग मेरी भक्ति करते हैं, उनका योग और क्षेम मैं ही चलाता हूँ। (अर्थात् उनका सम्पूर्ण भार मैं अपने ऊपर ले लेता हूँ)।'

'बाइबल'का अध्ययन करनेसे पता चलता है कि भगवान् अपने भक्तोंका बहुत अधिक ख्याल करते हैं, इसीलिये 'बाइबल'की मुख्य शिक्षा यही है कि 'भगवान्‌से प्रेम किया जाय।'

'कुरानशरीफ'में भी यही बात बतायी गयी है—

'फजकुरूनी अजकुरकुम वश कुरूलीवला तकफोरून।'

खुदा कहते हैं—'हे लोगो! तुम मुझको याद करो; (ऐसी दशामें) मैं भी तुमको अच्छी तरहसे याद करूँगा।'

संसारके सभी धर्मग्रन्थ, सद्-ग्रन्थ एवं संत-महात्मा सदा इसी बातको बताते हैं। जो भी सच्चे दिलसे भगवान्‌की शरणमें गया, उसको भगवान्‌ने अपना लिया। भगवान्‌का दरबार सदा सबके लिये खुला है। सज्जनोंमें युधिष्ठिर, दुर्जनोंमें अजामिल, महारथियोंमें अर्जुन और भीम, लुटेरोंमें वाल्मीकि, धनवानोंमें महाराज पृथु एवं दरिद्रोंमें सुदामा, बालकोंमें ध्रुव और प्रह्लाद, महात्माओंमें श्रीशुकदेव महाराज, अनपढ़ोंमें शबरी, ज्ञानियोंमें उद्धव और अक्रूर, मनुष्येतर जातियोंमें हनुमान्, अङ्गद एवं जटायु आदि असंख्य व्यक्तियोंका जीवन इसका उदाहरण है। अपनी शरणमें आये लोगोंकी भगवान् सदैव रक्षा करते हैं। कहाँतक कहा जाय, भगवान् सूर्य-चन्द्रमासहित सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी रक्षा करते हैं। अतएव कोई कैसा भी पापी क्यों न हो, यदि वह सरल भावसे प्रभुकी शरणमें आ गया तो वे उसे अपना बना लेते हैं। श्रीकृष्णका भरोसा रखिये; फिर कोई चिन्ता नहीं। वे बड़े दयालु हैं। कहा भी है—

'जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥'

(मानस ७।१।३)

भगवान् श्रीकृष्णने भी ऐसा ही कहा है—

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी मेरा भक्त होकर अनन्यभावसे मुझको भजता है तो उसे साधु ही मानना चाहिये; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान कोई और वस्तु नहीं है। ऐसा व्यक्ति शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और शाश्वत आनन्द एवं शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तुम स्पष्ट जान लो कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।' (गीता ९।३०-३१)

भगवान्से प्रेम करनेका यह चमत्कार है। मूढ़ लोग इस बातको नहीं समझते, इसीलिये दुःखी रहते हैं। जहाँ संकीर्तनपरायण भक्त रहते हैं, उस स्थानको भगवान् कभी नहीं छोड़ते। उनकी वाणी है—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न वै।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

(पद्मपुराण, उत्तर० ९४।२२)

'नारद! न तो मैं वैकुण्ठमें रहता हूँ और न योगियोंके हृदयमें ही। मैं तो वहाँपर जाकर बैठ जाता हूँ, जहाँ मेरे भक्त प्रेमपूर्वक संकीर्तन और भजनमें लगे होते हैं।'

पिता-माता, भाई-बहन, पुत्र, पति-पत्नी आदि सभी सम्बन्ध नश्वर हैं। वे वस्तुतः सुखदायी नहीं हैं। केवल भगवान्से ही सम्बन्ध स्थायी है और वे ही हमारे सबसे बड़े सुहृद् हैं। भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारने भी स्पष्ट शब्दोंमें बताया है कि करुणासागर भगवान् सदैव हमारे साथ रहते हैं, इसीलिये हमें रात-दिन प्रभुकी उपासनामें लगे रहना चाहिये—

सर्वसमर्थ सर्वके प्रेरक, सर्वशक्ति-निधि सर्वाधार।
सर्वलोक परमेस्वर, सर्वज्ञाता, सबके सुहृद उदार॥
ऐसे प्रभु करुणासागर हैं रहते सदा तुम्हारे साथ।
योगक्षेम-वहन करते वे सिरपर रखकर अपना हाथ॥
एकमात्र प्रभु ही पल-पलमें, पद-पदमें हों सुचि आराध्य।
प्रभु-उपासनामय जीवन हो, प्रभु ही हों सब साधन-साध्य॥

संतोंका यही कहना है कि 'अपने अभिन्नस्वरूप भगवान्में जो स्थित है, वही स्वस्थ है। उसको छोड़कर सभी रोगग्रस्त हैं। जगत्में एवं प्रकृतिमें स्थिति ही अस्वस्थता है। अतएव हम सबको नित्य-निरन्तर अबाधरूपसे भगवान् श्रीकृष्णसे सम्पर्क बना लेना चाहिये। यही कल्याणकारी मार्ग है।'

कलियुगमें भगवान्को पाना सरल है

भव-सागरसे पार होकर प्रभुतक पहुँचनेके लिये मन, एवं बुद्धिको सदैव भगवान्में लगाये रहना चाहिये। इसके लिये कीर्तनात्मक भक्तिको सर्वश्रेष्ठ साधन माना गया है। कलियुगके आरम्भमें ही महाराज परीक्षित्को श्रीमद्भागवतमें बताया गया है—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥

(१२।३।५१)

'हे राजन्! कलियुग दोषोंका आगार है, फिर भी इस युगमें यह महान् गुण है कि केवल भगवान् श्रीकृष्णके कीर्तन-मात्रसे जीव सभी प्रकारके बन्धनोंसे छुटकारा पाकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

चारों युगोंमें भगवान्को पानेके लिये सहजमार्ग अलग-अलग हैं। जैसा कि कहा गया है—

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥

(श्रीमद्भागवत १२।५।५२)

'सत्ययुगमें भगवान्के ध्यानद्वारा, त्रेतामें यज्ञद्वारा और द्वापरमें सेवाद्वारा जिस मुक्तिकी प्राप्ति होती है, वही कलियुगमें केवल हरिकीर्तनसे ही प्राप्त हो जाती है।' इसीलिये कहा जाता है कि अन्य युगोंकी अपेक्षा कलियुगमें भगवान्को पाना बहुत सहज एवं सरल है।

आजके समयमें श्रीकृष्ण-भावनाकी परमावश्यकता

भगवान् श्रीकृष्णके शाश्वत आनन्दपूर्ण व्यक्तित्वपर अपना ध्यान केन्द्रित करके जन्म, मृत्यु, व्याधि एवं जराकी स्थितिसे अपनेको मुक्त करनेके लिये इस युगमें सर्वोत्कृष्ट साधन श्रीकृष्ण-भावनाका ही आश्रय लेना है।

श्रीकृष्ण-भावनासे तात्पर्य है—सदैव श्रीकृष्णके चिन्तनमें संलग्न रहना। भगवान्की प्रतीक्षा, भगवत्कृपाकी प्रतीक्षा, भगवान्की अनुभूति एवं भगवान्की व्याकुलतापूर्ण स्मृति निरन्तर होनी चाहिये।

श्रीकृष्ण-भावना आत्मशुद्धिकी एक विधि है। भगवान् श्रीकृष्णकी भक्तिपूर्वक सेवासे और पवित्र भगवन्नामका कीर्तन करनेसे भगवत्प्राप्ति हो जाती है। श्रीकृष्ण-भावना किसी भी प्रकारकी साम्प्रदायिक संकीर्णतासे मुक्त है और लक्ष्यभ्रष्ट मानवमात्रके लिये प्रभुतक पहुँचानेका सबसे सरल मार्ग है। कलियुगकी त्रस्त मानवताके लिये यह एकमात्र

आश्रय है। श्रीकृष्ण किसी जाति-विशेषके न होकर सबके हैं, अतएव सर्वधर्म, सर्वसम्प्रदाय एवं सर्वजातीय एकात्मताके तथा विश्वबन्धुत्वके लिये श्रीकृष्ण-भावनाको अपना लेना ही श्रेयस्कर है।

भगवान्‌के प्रति भक्ति नौ प्रकारसे सम्पादित होती है—

(१) श्रवण, (२) कीर्तन, (३) स्मरण—नाम-जप, (४) श्रीहरिकी चरण-सेवा, (५) अर्चन, (६) वन्दन, (७) दास्य, (८) सख्य-भाव तथा (९) आत्मनिवेदन। कहा भी है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
(श्रीमद्भागवत ७। ५। २३)

श्रीकृष्ण-भावना कोई नयी बात नहीं है। यह सनातन धर्म है। चारों वेदोंको पढ़ने और उनको भली-भाँति हृदयंगम करनेके बाद कोई भी मनुष्य यह कह सकता है कि चारों वेदोंका लक्ष्य मनुष्यके मनमें भगवान्‌के प्रति प्रेम उत्पन्न करना ही है। पुराणमें यह कहा गया है—

जनार्दनं भूतपतिं जगद्गुरुं
स्मरन् मनुष्यः सततं महामुने।
दुःखान्यशेषाण्यपि हन्ति साधय-
त्यशेषकार्याणि च यान्यभीप्सति॥

सम्पूर्ण जीवोंके स्वामी, जगद्गुरु भगवान् जनार्दनका स्मरण करके मनुष्य सभी दुःखोंको नष्ट कर देता है और अपने सम्पूर्ण अभीष्ट कार्योंको सिद्ध कर लेता है।

वाराहपुराणमें भी यही बात बतायी गयी है—

नारायणाच्युतानन्त वासुदेवेति यो नरः।
सततं कीर्तयेद् भूमौ प्रयाति मम धाम सः॥

'इस पृथ्वीपर नारायण, अच्युत, अनन्त, वासुदेव आदि नामोंद्वारा मेरा कीर्तन करनेवाला मानव अवश्य ही मेरे धाम (गोलोक-वृन्दावन)को प्राप्त होता है।' याद रखिये—भगवन्नाम परम मङ्गलमय तथा सम्पूर्ण बड़े-से-बड़े उपद्रवों (आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक व्याधियों)को मिटाकर सब प्रकारसे परम कल्याण करनेवाला है। स्वयं-भगवान् श्रीकृष्णके प्रेमावतार श्रीचैतन्य महाप्रभुने झगड़ों, वैमनस्य एवं विद्रोहके समय कलियुगमें भगवत्प्राप्तिका प्रधान साधन भगवन्नामके जप एवं कीर्तनको ही बताया है। उन्होंने कहा है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

अर्थात् 'कलियुगमें एकमात्र श्रीहरिनामको छोड़कर बद्ध जीवकी कोई अन्य गति नहीं है।'

'श्रीभगवन्नाम-कौमुदीके रचयिता श्रीलक्ष्मीधरने भी भगवन्नामकी वन्दना करते हुए लिखा है—

अंहः संहरदखिलं सकृदुदयादेव सकललोकस्य।
तरणिरिव तिमिरजलधिं जयति जगन्मङ्गलं हरेर्नाम॥
(१।१)

'जैसे सूर्यका एक बार उदय होते ही वे समस्त अन्धकारको नष्ट कर देते हैं, वैसे ही श्रीहरिका नाम एक बार उच्चारण करनेमात्रसे जीवमात्रके सम्पूर्ण पापोंका नाश कर देता है। ऐसे समस्त जगत्‌का मङ्गल करनेवाले श्रीहरि-नामकी जय हो।'

भगवान्‌के पवित्र नामके कीर्तनके साथ-साथ मृदङ्ग, ढोल, करताल, झाल-जैसे वाद्ययन्त्र बजाये जाते हैं। नाम-संकीर्तनसे तात्कालिक फल यह होता है कि भक्तोंको आध्यात्मिक स्तरसे आती हुई सुखानुभूति प्राप्त होती है। परिणामस्वरूप भौतिक जीवनके कलुषसे समावृत मस्तिष्ककी कालिमा धुलने लगती है। संकीर्तन करने या संकीर्तनका प्रचार करनेके बदलेमें भगवान् श्रीकृष्ण भक्तोंको उस सुधारस (आत्मानुभूति) का पान करने देते हैं, जिसके लिये हम सब जन्म-जन्मान्तरसे तरस रहे हैं। अनन्त दिव्यशक्तिसे सम्पन्न परम-प्रभु श्रीकृष्णका व्यक्तित्व परम अद्भुत है और उनका नाम उनके स्वरूपसे अभिन्न है। यही कारण है कि आदिपुरुष भगवान् श्रीकृष्ण, जो आनन्दके एकमात्र स्रोत हैं, संकीर्तन या नाम-जप करनेवाले भक्तोंकी जीभपर नृत्य करते हैं। कीर्तन करने एवं उसका श्रवण करनेसे मस्तिष्क ध्यान और परमप्रभुके साक्षात् संनिध्यकी स्थितिमें केन्द्रित हो जाता है। 'हरे कृष्ण हरे राम' मन्त्रको सामान्य गीत या सांसारिक वस्तु नहीं जानना चाहिये। यह महामन्त्र अत्यन्त पुरातन कालसे ऋषियों एवं वैदिक साहित्यद्वारा अप्राकृत भावोन्मादकी स्थिति प्रदान करनेवाला स्वर माना गया है। भगवान्‌की स्तुति करते हुए श्रीचैतन्य महाप्रभुने कहा है कि 'मेरे प्रियतम प्रभु! आप इतने दयालु हैं कि आपने अपना पूरा प्रभाव अपने पवित्र नाममें स्थापित कर रक्खा है।' परमप्रभुके नाममें उनकी दिव्य विद्यमानता केवल संकीर्तन-दलके सदस्योंके लिये ही नहीं फलित होती, अपितु इससे संकीर्तन सुननेवालों, संकीर्तनकी ध्वनिको सुनकर उससे प्रसन्न होनेवालों तथा संकीर्तन-दलके सदस्योंका स्वागत करनेवाले लोगोंका भी कल्याण होता है।

मनका इकतारा

(लेखक—डॉ० श्रीसुरेशचन्द्रजी सेठ, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

हमारे घरके निकटसे एक 'इकतारा' बेचनेवाला प्रायः निकला करता था। वह एक ही तारपर ऐसी सुन्दर-सुन्दर राग-रागिनियाँ निकाला करता, जिसकी मधुर ध्वनिपर मुग्ध होकर छोटे-छोटे बच्चे उसे घेर लेते और घरसे पैसे लाकर इकतारा खरीद लिया करते। एक दिन एक बुद्धिमान् बालकने उससे एक इकतारा खरीदा और जब उसने उसीके सामने उसे बजानेका प्रयत्न किया तो प्रयत्न करनेपर भी वह उसे बजा न सका। उसने निराश होकर बेचनेवालेसे कहा—'तुमने तो मुझे बिल्कुल बेकार इकतारा दे दिया है, इसमें तो राग निकलते ही नहीं हैं।' बच्चेका आग्रह था कि वह उसे वही इकतारा दे दे, जिसे वह स्वयं बजा रहा था। बेचनेवालेने बालकको तत्काल अपना इकतारा दे दिया। किंतु बालकके लिये उस एक तारसे इकतारावालेकी तरह सप्तस्वर निकाल पाना सम्भव नहीं था। अभ्यासके बिना केवल देखकर वह तारसे राग उत्पन्न भी कैसे करता?

बिल्कुल यही बात 'साधक'के जीवनकी है। साधना-पथके प्रत्येक पथिकको विधाताने ऐसा ही इकतारा देकर संसारमें भेजा है। लेकिन कुछ लोग तो उसके द्वारा जीवनमें सप्तस्वरोंकी मधुर झंकृतिका आनन्द ले लेते हैं और दूसरे बच्चेके समान निराश होकर या तो जीवनसे हार मान बैठते हैं या दूसरेके इकतारोंको देखकर विवशताका अनुभव करने लगते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि एक तारके द्वारा सप्तस्वरोंको जिस प्रकार निरन्तर अभ्यासके बलपर प्रकट करना पड़ता है, उसी प्रकार जीवनमें सोये सत्यको प्रकट करनेके लिये साधकको सतत जागरूक रहकर साधना करनी होती है। जब हम किसी संतके मुखसे सत्यका विवेचन सुनते हैं, तब हम जीवनके तथ्योंपर संदेह कर निराश होने लगते हैं। इकतारा बता रहा है कि सभी तारोंमें स्वरोंको प्रकट करनेकी शक्ति है। अन्तर इतना ही है कि स्वर प्रकट करनेके लिये तारका स्पर्श कर एक-एक रागके लिये धीरे-धीरे अभ्यास करना पड़ता है और फिर साधककी दीर्घकालीन साधना उसे मुखरित बना देती है।

इस सत्यका जीवनसे भी यही सम्बन्ध है। जिन व्यक्तियोंने अपने इकतारेके तारको स्पर्श करनेकी कला सीख ली है, वे जीवनके सत्यको प्रकट करनेमें समर्थ हो सके हैं। 'वाणी' उसका साधन है, 'मन' उसकी शक्ति है, 'भाव' उसका प्राण है और 'बुद्धि' उसे विवेक प्रदान करती है। ऐसे साधककी वाणीसे शब्द प्रकट होते हैं तो लगता है कि फूल झड़ रहे हैं। वाणीके द्वारा हमारे मानसमें हलचल मचानेवाले भावोंकी ही अभिव्यक्ति होती है। सामान्य रूपसे मनके संदर्भमें व्यक्ति यही कहता हुआ पाया जाता है कि 'हमारा मन तो इतने विकारोंसे भरा पड़ा है कि वह जीवनके वास्तविक स्वरूपको देख ही नहीं पाता।' साधकको यह समस्या इतना अधिक परेशान किये रहती है कि साधारण व्यक्तिको यह भरोसा ही नहीं हो पाता कि जिस मनको वह दोष दे रहा है, वह बेचारा तो बिल्कुल निर्दोष है। वह यह सर्वथा भूल जाता है कि मन तो इकतारेके तारके समान कारण है, कर्ता नहीं। उससे कौन-सा राग निकले, यह तो बजानेवालेपर निर्भर करता है, न कि स्वयं तारपर। अतः हम सभी साधकोंके लिये यह बड़े उत्साहकी बात है कि हम अपने मनको अब दोष देना छोड़ दें। मनमें स्वतः कार्य करनेकी क्षमता है ही नहीं।

मनको दोष देनेके स्थानपर साधकको यह देखना चाहिये कि मनमें विकार क्यों आते हैं, जिसके कारण हमारे मुखसे वे शब्द निकल ही नहीं पाते, जिन्हें निकलना चाहिये था। यदि मनमें स्वभावसे ही विकार हुए होते तो वह लाख प्रयास करनेपर भी कभी विकाररहित हो ही नहीं पाता। सत्य तो यह है कि मनमें कोई विकार स्वभावसे है ही नहीं। मन तो विचारोंकी हलचलका केन्द्र है। यह तो हमारे समर्थनपर निर्भर करता है कि हम अपने मुखसे किन बातोंको प्रकट करते हैं। हम जिन विचारोंको प्रिय मानकर हृदयमें स्थान दे देते हैं, वे ही समय पाकर मुखसे प्रकट हो जाते हैं। विषयोंमें भोगकी रुचिके कारण हमसे इतनी बड़ी भूल हो जाती है कि जिन पदार्थोंमें जीवन देनेकी शक्ति है ही नहीं, उनमें हम जीवन मान बैठते हैं और जहाँसे जीवन मिलता है, उस ओरसे हम विमुख हो उठते हैं। जबतक हम मनमें उत्पन्न होनेवाले विचारोंको अपना समर्थन नहीं देते तबतक विचारोंके आनेमात्रसे मनमें कोई विकार या पाप उत्पन्न होता ही नहीं।

इसलिये संतोंने साधकोंको एक बहुत बड़ा आश्वास

दिया है कि 'ऐ मानव ! तेरे मनमें स्वभावसे कोई विकार नहीं है। जब तुम कुविचारों अथवा असद्-विचारोंका समर्थन करने लगते हो, तब तुम्हारा मन भी विकृत हो जाता है और फिर तुम्हारे मुखसे ऐसे अटपटे स्वर निकलने लगते हैं, जिनका जीवनके सत्यसे कोई मेल नहीं होता।' जीवनमें सबसे बड़ी समस्या भोगोंमें रुचि है। व्यक्ति जब भोगकी रुचिमें आबद्ध हो जाता है, तब वह जीवनमें उन सभी कार्योंको कर डालता है, जिन्हें वह अपने ज्ञानसे यह समझता चलता है कि उनका करना उचित नहीं है। मनुष्यकी दुर्दशाका यह कैसा अनूठा चित्र है कि जिन भोगोंने आजतक उसे तृप्त ही नहीं किया, उन्हींमें वह बार-बार जीवनकी तृप्ति खोज रहा है। यदि संसारके भोग्य पदार्थोंमें तृप्त बना देनेकी सामर्थ्य हुई होती तो विश्वके सम्पन्न राष्ट्र तो शान्त हो ही जाते; पर ऐसा नहीं देखा जाता। अविचारकी भूमिमें भोगरूपी बीज उत्पन्न होकर मनको भी दूषित कर देता है और फिर व्यक्ति भोग-विलासमें आबद्ध हो जाता है। संतोंके मुखसे मैंने अनेक बार यह सुना है कि सार्थक कामोंको पूरा कर देनेके पश्चात् और निरर्थक कार्योंका ज्ञानसे त्याग कर देनेके उपरान्त, मनका निग्रह स्वतः हो जाता है। जिन कार्योंके करनेसे शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति होती है, वे ही 'सार्थक कर्म' कहे जाते हैं। बुराईका चिन्तन करनेसे बुराई और भलाईका चिन्तन करनेसे भलाई स्वतः होने लगती है तथा मन भी स्वतः उधर ही चलने लगता है। अतः साधकोंको बड़ी ही सजगतासे इस रहस्यको समझ लेना चाहिये।

विचार करके देखिये कि मनमें वासनाएँ क्यों उत्पन्न होती हैं ? वासना उत्पन्न होनेका मूल कारण इतना ही है कि अभीतक हमने अपने ज्ञानकी दृष्टिसे वासनाके मूल स्वरूपका दर्शन ही नहीं किया है। जिसे भोगका सही ज्ञान हो जाता है, उसकी भोग-वासना स्वतः मिट जाती है और मन बड़ी ही सरलतासे निर्विकार हो जाता है। 'वासनाओंके समूहका नाम ही मन है'—ऐसा संतोंने कहा है। समस्त वासनाओंका अन्त कर देनेपर मन मर जाता है और फिर काम, क्रोध, मोह आदि विकार साधकको विचलित नहीं कर पाते। वासनाओंका अन्त निजज्ञानसे ही सम्भव है। जबतक हम अपने जाने हुए सत्का सङ्ग नहीं करते हैं, तबतक सच्चा सत्सङ्ग भी नहीं हो पाता। अतः वासनाओंका अन्त यथार्थ ज्ञानसे ही सम्भव है। यथार्थ ज्ञान हृदयके शुद्ध होनेपर ही होता है और हृदयकी शुद्धि इच्छाओं-कामनाओंके त्यागसे ही सम्भव है। जब हम निर्विकार हो जाते हैं तो जीवनके इकतारेसे वही ध्वनि निकलने लगती है, जिसमें जीवनकी मधुरिमा होती है, जीवनका आनन्द होता है और जीवनका सत्य होता है। अतः हमें सजग होकर अपनी स्वरतन्त्रीको उस महिमावान्की स्वर-लहरीसे एक तार कर देना चाहिये।

मनका मूक रुदन !

(रचयिता—श्रीरघुनन्दनप्रसादसिंहजी, पत्रकार)

प्रभुका ध्यान न जमने देता, जन्म-जन्मकृत पाप।
मनमें सदा उठा करता है, पल-पल पश्चात्ताप॥
क्यों इतना मलीन मन है यह, जिसका दंड न माप।
निज बलसे मिटनेवाला है, कभी न मनका ताप॥
मन टटोल देखो, मनमोहन ! मनका नहीं प्रलाप।
आकुल मनका मूक रुदन है, या है व्यथा-विलाप॥
क्या जानें किस ऋषिको इसने दिया कभी संताप।
जन्म-जन्मसे चला आ रहा शायद उसका शाप॥
दुर्बल जीर्ण-शीर्ण तनसे कुछ होता योग न जाप।
यम नरेशकी अशुभ ध्वजासे सहम रहा मन काँप॥
युग-समान क्षण बीत रहा बन जीवनका अभिशाप।
विरद-विचार करो करुणामय ! हरो विषम यह ताप॥
चरण-कमलमें चित्त निरन्तर रमण करे निष्पाप।
दीनानाथ ! दयालु ! आपसे होवे मधुर मिलाप॥

प्रार्थना

(प्राणोंके प्राणनाथ कन्हैयासे)

प्रेमदान दो !

मेरे प्राणोंके प्राण कन्हैया ! जैसे प्यासा पपीहा प्रतिक्षण अपने प्रेमास्पद पयोदको ही पुकारता है, चाहक चकोरके ललचाये लोचन-कोर चिरकालसे चारु चान्द्री सुधाके संचारक पूर्ण चन्द्रकी ओर ही लगे रहते हैं, उसी प्रकार मेरा मन तुम्हारी रूप-माधुरीमें ही नित्य निमग्न रहे, मेरे प्राण प्रतिपल तुम्हें ही प्यारसे पुकारते रहें। जैसे कामीको कामिनी, चोरको यामिनी और मोरको दामिनी-मण्डित मेघमाला प्रिय लगती है, उसी तरह, प्यारे नन्दलाला ! केवल तुम मुझे प्रिय लगो। मैं अपने सम्पूर्ण हृदयका प्यार तुमपर ही उड़ेलता रहूँ। जैसे चातकको घनश्याम, चक्रवाकको घाम तथा कोकिलको आम्रवन सुखदायी जान पड़ता है, उसी प्रकार हे मनमोहन ! मेरे मनका तारा सदा तुमको ही अपना प्राणप्यारा एवं सुखद सहारा बनाये रखे। तुम्हारा स्मरण ही मेरी सम्पत्ति हो और विस्मरण ही विपत्ति। मेरे कान तुम्हारी मुरलीकी तानमें गूँजनेवाले श्रीराधाके असाधारण गुणगान सुनते रहें। ये नैन तुम्हें देखे बिना बेचैन रहें। मेरी नासिका तुम्हारे चरणारविन्दोंपर चढ़ी हुई तुलसी-मञ्जरीका सुवास सोल्लास लेती रहे। रसना नामका रस पीती रहे। त्वगिन्द्रियद्वारा तुम्हारा सुकोमल संस्पर्श पाकर मेरा रोम-रोम हर्षसे उल्लसित हो उठे। मेरी वाणीमें वीणापाणि वाणी उतर आयें और तुम्हारी कल्याणी कीर्ति-कथा गाती हुई मेरी रसनाके रंगमञ्चपर वे सदैव लास्य-विलास करती रहें। अनाथ-नाथ ! मेरे दोनों हाथ तुम्हारे पाद-पाथोरुहोंकी सेवाका सौभाग्य पाकर सदाके लिये सनाथ हो जायँ और उनके पावन परागसे परिपूरित तीर्थ-सलिल-द्वारा अपने मस्तकका सानुराग अभिषेक करें। ये दोनों पाँव तुम्हारी पावन लीलास्थलियोंमें विहरण-विचरण करते रहें और मैं भाव-विभोर होकर भोरसे विभावरीतक 'श्रीराधे वृषभानु-नन्दिनी, मुरलीधर जय नन्दकिशोर' का शोर मचाता, गाता हुआ व्रजकी रजमें लोट लगाता रहूँ !

प्राणनाथ ! तुम्हारे प्रेमी भक्तोंका सदा साथ मिले; साथ ही, मेरे मानसमें प्रेमका ऐसा अपार पारावार उमड़ उठे, जिसमें डूबकर मैं तुम्हारे सिवा सब कुछ भूल जाऊँ। तुम्हारे वाङ्मय कलेवर श्रीमद्भागवतका कथन है—'वह हृदय नहीं, फौलाद है, जो भगवान्‌के नाम लेनेपर भाव-विकारोंके वशीभूत न हो जाय, वे नेत्र नेत्र नहीं हैं, जिनसे आँसू न छलकने लगें तथा वे अङ्ग अङ्ग नहीं हैं, जिनमें रोमाञ्च न हो जाय।' अकारण-करुणासिन्धो ! क्या तुम्हारी कृपासे कभी मेरी भी ऐसी स्थिति हो सकती है ? ओह ! मेरा हृदय तो इस समय लोहसे भी अधिक कठोर हो गया जान पड़ता है। न नेत्रोंसे अश्रु उच्छलित होते हैं, न अङ्ग-अङ्ग पुलकित। दयामय ! दया करके इस लोहेको पिघला दो। आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, वृक्ष-लता आदिको तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंको मैं तुझ मुरलीमनोहर, पीत-कौशेय-समावृत नन्दनन्दनके रूपमें निहारकर अपनेको हार दूँ और चरणोंमें प्रणिपात करने लगूँ—ऐसी स्थिति मेरी हो जाय। तुम्हारे सिवा दूसरा कुछ मुझे दिखायी ही न दे। हे मेरे निरञ्जन ! इन खञ्जन-सदृश चञ्चल नयनोंमें तुम अञ्जन-से छा जाओ। इनके ऊपर अपनी मनोभिराम श्यामताका ऐनक चढ़ा दो। फिर गोपियोंकी भाँति मेरे प्राणोंसे भी यही उद्गार फूट पड़े—'जित देखौं तित स्याममयी है।'

यह भाव-भावना अध्यारोप या अध्यास नहीं है। यही परमार्थ सत्य है, इस तथ्यको न पहचाननेके कारण ही दृष्टिमें भेद आता है और दृष्टिभेदसे ही दर्शनमें भेद होता है। गीतागायक जगद्गुरो ! तुम मेरे इस दृष्टि-भेद और दर्शन-भेदको दूर कर दो, जिससे सदा, सर्वत्र और सबमें एकमात्र तुम्हारी ही मनोहर झाँकी दिखायी दे। 'वासुदेवः सर्वमिदम्' यह यथार्थ दृष्टि या बोध मेरे लिये सहज हो जाय। फिर तो आत्माको

आत्माराम, मीराँको गिरिधर गोपाल तथा गोपरामाको नन्दलाल मिल जायँ। हे मेरे नयनाभिराम ललित-ललाम मेघश्याम व्रजधाम-वल्लभ। क्यों मेरे हृदयके तिमिरावृत प्रदेशमें लुके-छिपे बैठे हो। दृष्टिके सामने आओ, प्राणोंमें समा जाओ और मधुर स्पन्दनको जगाओ। पलभरके लिये भी इन आँखोंसे ओझल न होओ। प्राकृत प्रपञ्चकी मरुभूमिपर रस-सिन्धुकी भ्रान्ति लिये लहराती हुई विषय-मरीचिकामें भटकते मृग-रूपी मेरे सतृष्ण मनको, हे मेरे कृष्ण! तुम अपनी ओर खींच लो। आकर्षण तुम्हारा स्वभाव है। जिसको तुमने आकर्षित कर लिया, वह तुम्हें छोड़कर अन्यत्र कहीं जा ही नहीं सकता। इस जनको संसारके सपनेसे निकालो और अपनेसे लगा लो। तुम जिसे पकड़ते हो, उसे छोड़ते नहीं, उसकी ओरसे मुँह मोड़ते नहीं; मुझे भी पकड़ो और अपना बंदी बना लो। मैं इसीमें आनन्दित रहूँगा। मुझे योगकी युक्ति, भोगोंकी मुक्ति नहीं चाहिये, मुझे तो तुम अपना बन्धन ही दे दो। मुझे हेम-क्षेम नहीं, तुम्हारा प्रेम चाहिये। मैं 'तुम' नहीं, 'तुम्हारा' होकर रहना चाहता हूँ। 'तुम मेरे हो'—यह ममता मुझे सदा ही बाँधे रखे। 'मैं तुम्हारा हूँ', मेरा यह अहंकार कभी विलीन न हो। तुममें मद नहीं, मोह नहीं, इसीलिये तो तुम 'मदनमोहन' हो। मेरे मद-मोहको भी दूर भगा दो, मुझे सोतेसे जगा दो।

चितचोर! मेरा चित्त अनन्य-चिन्तनकी उस रसधारामें निमग्न रहे, जहाँ तुम अनायास ही पास सुलभ हो। दिव्य प्रेमधामकी वृन्दाटवीमें, कालिन्दीके तटपर, विरजाकी उत्ताल तरंगोंसे अभिषिक्त वंशीवटके निकट निरन्तर चलनेवाली तुम्हारी रसमयी लीलाका विलास मेरे अन्तर्जगत्को नित्य नूतन उल्लास और प्रकाश देता रहे। प्रियके कुञ्ज-कुटीरमें मुखर कीरकी तरह सतत सतृष्ण रहकर मैं बिना बाधा 'राधाकृष्ण-राधाकृष्ण' रटता रहूँ। मुझे वह दृष्टि दो, जो प्रीति-रसकी संसृष्टि करे। मेरे अवरुद्ध प्रेम-प्रवाहको उन्मुक्त कर दो। मैं सर्वत्र दिव्य व्रजका, चिन्मय वृन्दावनका तथा परमव्योम—गोलोक-धामका प्रत्यक्ष दर्शन कर सकूँ। प्रेमी भक्त उद्धवजीकी भाँति मैं भी वृन्दावनकी प्रत्येक लता-पता, गुल्म-ओषधि आदिमेंसे कुछ भी बन जानेमें सौभाग्यका अनुभव करूँ, जिनके ऊपर कृष्णप्राणा गोपसुन्दरियोंके पद-पद्म-पराग पड़ते रहते हैं। वहाँकी हर वस्तु मेरे हृदयमें प्रेमोन्माद जगाने-वाली हो जाय। मुझे प्रतिक्षण, प्रतिपल तुम दोनों—वृन्दावनविहारी श्रीनन्दकिशोर तथा बरसानुराजनन्दिनी श्रीराधाके चरण-नूपुरोंकी झनकार सुनायी दे। सखाओं और सखियोंसहित प्रिया-प्रियतमके दर्शन पाकर यह जन्म और जीवन कृतार्थ हो जाय। ऐसा ही प्रगाढ़ प्रेम प्रदान करो, मेरे प्राणवल्लभ!

—तुम्हारा ही एक अकिंचन

प्रार्थना आत्माकी पुकार है

प्रार्थना करना याचना करना नहीं है, वह तो आत्माकी पुकार है। जब हम अपनी असमर्थता खूब समझ लेते हैं और सब कुछ छोड़कर ईश्वरपर भरोसा करते हैं, तब इसी भावनाका फल प्रार्थना है।

एक मनुष्यको हम पत्र लिखते हैं। उसका भला-बुरा उत्तर मिलता भी है और नहीं भी मिलता। ईश्वरको पत्र लिखनेमें न कागज चाहिये, न कलम-दावात ही और न शब्द ही। ईश्वरको जो पत्र लिखा जाता है, उसका उत्तर न मिले, यह सम्भव ही नहीं। उस पत्रका नाम 'पत्र' नहीं, प्रार्थना है, पूजा है। मन्दिरमें जाकर ऐसे करोड़ों लोग प्रतिदिन लिखते हैं और उन्हें श्रद्धा है कि उनके पत्रका उत्तर भगवान्ने दे ही दिया। यह निरपवाद सिद्धान्त है—भक्त भले ही उत्तरका कोई बाह्य प्रमाण न दे सके, उसकी श्रद्धा ही उसका प्रमाण है। उत्तर प्रार्थनामें ही सदा रहा है, भगवान्की ऐसी प्रतिज्ञा है। प्रार्थना या भजन जीभसे नहीं, हृदयसे होता है। इसीसे गूँगे, तुतले एवं मूढ़ भी प्रार्थना कर सकते हैं।

स्तुति, उपासना, प्रार्थना अन्धविश्वास नहीं, बल्कि उतनी अथवा उससे भी अधिक सच हैं, जितना कि हम खाते हैं, पीते हैं, चलते हैं, बैठते हैं; ये सच हैं, बल्कि यों भी कहनेमें अत्युक्ति नहीं कि यही एकमात्र सच है, दूसरी सब बातें झूठ हैं, मिथ्या हैं।

—महात्मा गाँधी

'जसोदा हरि पालने झुलावै !'

[एक भावचित्र]

(लेखक—श्रीब्रह्मेशजी भटनागर, एम्० ए०)

मूला मन्दिरसे रास देखकर लौटी। लीलाकी दिव्य झाँकी उसके नेत्रोंमें झलक रही थी। सुन्दर पालनेमें पीला कच्छा तथा झगला पहने हुए छोटे-से नन्दनन्दन लेटे हुए थे। पाँवमें पैजनियाँ, माथेपर चन्दनकी खौर, कमल-से नेत्रोंमें काजल तथा गलेमें वनमाल सुशोभित हो रही थी। कहीं नीलमणिको डीठ न लग जाय, मैयाने काजलका डिठौना भी लगा दिया। लोल लोचनोंसे लेटे-लेटे चारों ओर देख रहे थे वे। मैया कभी पालना झुलाती, कभी दुलार करती और कभी लोरी गाने लगती।

'निंदिया! तू क्यों नहीं आती? तुझे मेरा कन्हैया बुला रहा है, आकर इसे सुला।' कन्हैया पलकें झपकाने लगा, अधर फड़कने लगे। मैयाने लोरी बंद कर दी और संकेतसे मौन रहनेका आदेश दिया। फिर भी प्रभु अकुलाकर जाग गये। माँ फिर लोरी गाने लगी। उधर संगीत चल रहा था—'जसोदा हरि पालने झुलावै।' कैसी अनुपम शिशु-लीला थी।

मूलाके मातृहृदयमें सुप्त वात्सल्य मचल उठा। उसने क्षीण साँस ली। पैंतीस वर्ष हो गये उसके विवाहको, पतिके सुन्दर, स्वस्थ और सम्पन्न होनेपर भी उसकी छोटी-सी गृहस्थी बाल-किलकारियोंसे न गूँजी। माँ बननेकी लालसा तड़पकर रह जाती। इसी अभावसे वह दुःखी रहती। पतिने किसी शिशुको गोद लेनेका आग्रह किया, किंतु मूला कह देती—'जब अपने ही नहीं हुआ तो दूसरेका गोद लिया शिशु क्या निहाल करेगा?' इस अभावकी पूर्ति वह पड़ोसके बालकोंसे करती। बालकोंकी क्रीड़ासे उसके मनको शान्ति मिलती। किंतु आजकी प्रभु-बाललीलाने उसकी अतृप्त लालसाको झकझोर दिया। उसका मन भारी हो गया। अश्रु नेत्रोंके कोरोंसे झाँकने लगे। उसने दीर्घ निःश्वास लिया। उसके कानमें सहसा उस महात्माके शब्द गूँजे—'प्रभु दयालु हैं, उदार हैं, सबसे अधिक हितैषी हैं। उनसे माता, पिता, बन्धु, सखा, पुत्र आदि किसी रूपमें सम्बन्ध जोड़ो, किसी नातेसे उन्हें पुकारो, वे अपने जनको अपना लेते हैं।' वह प्रसन्न हो गयी।

'गोपालको अपना बेटा बनाऊँगी'—उसके संकल्पमात्रसे समस्या हल हो गयी, जैसे चिर अभिलाषा पूरी हो गयी हो। उसके शिथिल पाँवोंमें गति आ गयी। वह गुनगुनाती रही—'जसोदा हरि पालने झुलावै'!

रामदास दूकानसे लौटे। पत्नीको गुनगुनाते देखकर वे विस्मित रह गये।

'बड़ी प्रसन्न है, मूला!'

'माँ बननेवाली हूँ।'

'माँ!' वह चौंका! 'क्यों ठठोली करती है?'

'आप असम्भव समझते हैं? यशोदाजीके तो ६६ वर्षमें कन्हैया पैदा हुए थे।'

'वह द्वापर था, यह कलि है।'

'सुनिये, मैंने गोपालको अपना बेटा बनानेका निश्चय किया है। आप शिल्पीसे कहकर ऐसे सुन्दर गोपाल बनवा दें, जिन्हें मैं शिशुकी भाँति स्नान कराके शृङ्गार धारण करा सकूँ। सुन्दर-सा पालना भी बनवा दें।'

रामदासका जैसे मानसिक बोझ उतर गया। उसने प्रसिद्ध शिल्पीको गोपालकी सुन्दर प्रतिमा बनानेका आदेश दिया। मूला नित्य पूछती—'कब आयेगा मेरा लाल?' गोपालके स्वागतके लिये वह नित्य अपना घर लीपती। पतिके आनेकी प्रतीक्षा करती, जब उन्हें रिक्त हाथ आते देखती तो निराशासे खीझ उठती।

'ले, आ गया तेरा गोपाल।'—रामदासने गृहमें घुसते ही पुकारा। मूला दौड़ी। गोपालको हृदयसे लगा लिया। उसे लगा, जैसे उसकी युगोंसे तड़पती आत्माको शान्ति मिल गयी। वह नाच उठी। गा उठी—'नन्दके आनन्द भयो कृष्ण आये पाहुना!' रामदासने पालना टाँगा। उधर मूलाने गोपालको स्नान कराकर झगला-कच्छा पहनाया, गलेमें माला डाली, पाँवोंमें छोटी-सी पैजनियाँ, सिरपर मोर-मुकुट लगाया। नयनोंमें काजल लगाया और कहीं किसीकी बुरी दृष्टि न लग जाय—डिठौना लगाकर पालनेमें लिटा दिया। पालना झुलाकर वह गा उठी—'जसोदा हरि पालने झुलावै!'

फिर उठी; पड़ोसमें भजन-कीर्तन तथा मङ्गल-गीत गानेका निमन्त्रण दे आयी। रसोईमें जाकर अपने गोपालके लिये भिन्न-भिन्न प्रकारके पकवान बनाने लगी। उसके हर्षकी सीमा न थी।

संध्याको बड़े समारोहसे भजन-कीर्तन हुआ। सबने प्रसाद ग्रहण करते हुए बधाई दी। मूला मुस्कुराती हुई आनन्दसागरमें डुबकी लगा रही थी। छठी तथा दसौंधीके उत्सव धूमधामसे मनाये। प्रातः उठकर गोपालकी सेवामें जुट जाती। सुन्दर पकवान बनाती, स्नान कराकर नये वस्त्र पहनाती, घंटों पालना झुलाती। रामदाससे मूला अब नहीं झगड़ती। उसे अवकाश ही नहीं मिलता। वह तो कृष्णाकी भाँति अपनी अमूल्य निधिके ध्यानमें, उसके सँवारनेमें लगी रहती; पतिसे बात करनेका समय भी न मिलता उसे।

कुछ वर्ष बीते। मूलाके हृदयमें नयी इच्छा हिलोरें लेने लगी। एक दिन पूजागृहमें उसने पतिको बुलाकर पालनेकी डोरी उनके करमें देकर कहा—'अब गोपाल बड़ा हो गया, बिना वधूके गृह अच्छा नहीं लगता। मुझे सुन्दर वधू ला दें।' उसके वात्सल्यभरे आग्रहसे वह द्रवित हो गया। कुछ दिनोंके पश्चात् रामदास एक सुन्दर-सी प्रतिमा लेकर घर लौटा। उसने मूलाको बुलाया—'वधू आ गयी, मूला! ले, स्वागत कर!'

'रुक जाइये। उसे बाहर कमरेमें ठहरा लें। मैं स्त्रियोंके साथ उसका गृह-प्रवेश कराऊँगी।' फिर उसने बहुमूल्य वस्त्राभूषणोंसे प्रतिमाका शृङ्गार किया। 'कितनी सलोनी लग रही है मेरी राधा वधू।' उसने बलैया लेते हुए कहा—'पण्डितको बुला लाइये, मैं विधि-विधानसे वधूको गृहमें लाऊँगी। मेरा कन्हैया तो ऐसी चंदा-सी वधू पाकर फूला न समायेगा।'

गोपाल और राधाका विवाह सम्पन्न हुआ। मूला समारोहमें प्रसन्नतासे कार्य कर रही थी। प्रीतिभोज हुआ। मूला राधाको देखती-की-देखती रह गयी।

मूलाकी जन्म-जन्मान्तरकी साध पूरी हो गयी। गोपाल तथा राधा-वधूके रूपमें उसे मनोवाञ्छित फल मिला। वृद्धावस्थाजनित रोग तथा व्यथा न जाने कहाँ तिरोहित हो गये। अब तो वह एक नयी स्फूर्ति—उमङ्ग अनुभव करती थी। उसके शिथिल लड़खड़ाते पाँव अब गतिमय हो गये। वह प्रातःसे रात्रितक यन्त्रकी भाँति कार्यरत रहती। ब्राह्ममुहूर्तमें उठती। दैनिक कार्योंसे निवृत्त हो पूजागृह झाड़ती-लीपती। स्नान करके रसोई-गृहमें जाती, गोपाल तथा राधा-वधूके लिये कलेवा तैयार करती। फिर उन दोनोंको गाती हुई—'जागिये-जागिये ब्रजराज-कुँवर! पंछी बन बोले।' उठाती। उन्हें स्नान कराके वस्त्राभूषण पहनाती, काजल लगाकर डिठौना अवश्य लगा देती। वह वधूको देखती तो देखती ही रह जाती। अपने शरीरकी सुध-बुध भूल जाती। फिर गोपालको देखती। उसका वात्सल्य उमड़ पड़ता। वह दोनोंको हृदयसे लगा लेती। मध्याह्नको भोजनके लिये उन दोनोंसे प्रश्न करती—'क्या बनाऊँ?' स्वयं उत्तर देती तो उसे लगता, जैसे दोनों सिर हिलाकर 'हाँ' कर रहे हैं। वह चावसे भोजन बनाती, सुन्दर थालियोंमें सजाकर रखती। ध्यानसे दोनोंकी ओर देखती तो ऐसा प्रतीत होता कि दोनों बड़े आनन्दसे भोजन कर रहे हैं। वह प्रसन्नतासे भर जाती। नित्य नये वस्त्र सीकर पहनाती। रात्रिको नित्य कीर्तन-भजन होता। वह पालनेमें दो शय्या बिछाती और उनपर अपने प्रिय गोपाल तथा राधा-वधूको शयन कराकर स्वयं सो जाती।

एक दिन वह पालना झुलाती हुई गा रही थी—'जसोदा हरि पालने झुलावै!' रामदास पालनेके समीप आकर झुलासे डोरी लेते हुए बोले—'आज तो मैं भी झुलाऊँगा, मूला!' तब मूलाने किंचित् रोषसे कहा—'अरे यह आपने क्या किया? देखते नहीं, राधा-वधू सो रही थी। आपको देखकर वह उठ बैठी। उसने घूँघट काढ़ लिया। देखिये, कैसी संकुचित हो रही है वह।'

'मुझे पता नहीं था, मूला! त्रुटि हो गयी। अब भविष्यमें खाँसकर आऊँगा।' और वे चले गये।

'सो जा मेरी लाडली!'—वह थपकी देकर राधा-वधूको सुलाने लगी। कोई व्यङ्ग्य करे तो करे, परिहास करे, किंतु उसे चिन्ता न थी। वह तो उन दोनोंके पीछे बावली थी।

नगरमें साम्प्रदायिकताकी अग्नि भड़क उठी, जिसमें धन-जन-सम्पत्ति स्वाहा हो गयी। भीषण लपटोंसे रामदासकी दूकान भी न बच सकी। असामाजिक तत्त्वोंने उसे भस्मसात् कर दिया। लाखोंका स्वामी दर-दरका भिखारी हो गया।

रामदासने माथा पीट लिया। मूलाने पतिको सान्त्वना देते हुए कहा—'क्यों दुःखी होते हैं, प्रभुपर भरोसा करें।' मूलाने समझाते हुए कहा—'मन छोटा क्यों करते हैं? प्रभु मङ्गल करेंगे। अब खोंचा लगाना प्रारम्भ करें।'

मूला समझा तो रही थी, किंतु उसका मन घुट रहा था। उसके सामने समस्या थी अपने लाडले गोपाल तथा राधा-वधूकी। वह कहाँसे उन्हें सुन्दर पदार्थ खिलायेगी। कैसे नवीन वस्त्राभूषण पहनायेगी। वह विलख उठी—'प्रभु तुमने वृद्धावस्थामें अपार सुख देकर दाने-दानेको मुहताज बना दिया। यह तुम्हारा कैसा निर्मम विधान है?' ऐसी परिस्थितिमें भी मूला अपने लाडलोंको रुचिकर व्यञ्जन बनाकर भोग लगाती रही; किंतु एक दिन जब उसे कोठारमें कुछ न मिला तो चिन्तामें डूब गयी—'क्या खिलाऊँगी अपने दुलारोंको?' वह उदास-मुद्रामें कुछ समयतक बैठी रही। फिर जो कुछ सामग्री थी, वही बनाकर गोपाल तथा राधा-वधूके सामने रखी। आज उसे ऐसा लगा कि गोपाल उसकी ओर घूर रहा है और राधा-वधू नीचे नयन झुकाये हुए है। उसने वात्सल्यभरे स्वरमें कहा—'मेरे लाल! मैं विवश हूँ।' वह रो पड़ी।

गोपालको घूरते देखकर उसने विह्वल स्वरमें कहा—'तू रूठ गया है, मेरे लाल! क्षमा कर दे। इस प्रकार न देख। मेरा हृदय फटा जा रहा है। देख, तू भोजन नहीं करेगा तो राधा-वधू भी नहीं खायेगी और फिर मैं भी अन्न ग्रहण नहीं करूँगी। नहीं करूँगी, गोपाल, नहीं करूँगी।' वह रोती हुई कमरेमें चली गयी।

मूलाको रात्रिमें निद्रा न आयी। वह रोती रही। प्रातः उठकर उसने चावसे भोजन बनाया। प्रसन्नतासे बोली—'गोपाल! आज तो मैं रुचिकर पदार्थ बनाकर लायी हूँ। खायेगा न! अरे! फिर तू घूर रहा है। तुझे मुझपर दया नहीं आती तो इस कोमलाङ्गी राधा-वधूका ही विचार कर। देख निर्मम, कैसी निर्बल हो गयी है वधू! तू ही इसे समझा। कोई माँसे भी रूठा करता है? क्यों रे, तू सुदामाके कच्चे तन्दुल खा सकता है, विदुरानीके फलोंके छिलकोंको खाकर सराहना कर सकता है और भीलनीके जूँठे बेरोंके मधुर रसका बखान कर सकता है; किंतु खा नहीं सकता मुझ अभागिनके बनाये हुए पदार्थ! कैसे खायेगा तू। तुमको यशोदामैयाने माखन-मिश्री खिलाकर चटोरा बना दिया, फिर ये रूखी रोटी तेरे कण्ठमें कैसे उतरेगी?' रात्रिको भोग लगाते समय मूलाने बड़ी अनुनय-विनय की, अपनी शपथ दिलायी, यशोदामैयाकी दुहाई दी। राधा-बहूकी भी मनुहार की, किंतु सब व्यर्थ। रोती हुई वह सोने चली गयी।

प्राचीमें पौ फट रही थी। मूलाको उठते न देखकर रामदास जगाने गया। वह स्वप्नमें बड़बड़ा रही थी—'गोपाल, कठोर न बन बेटा! मेरे लाल, मैं तेरा कुम्हलाया मुख न देख सकूँगी। मुझे घूरकर न देख गोपाल, गोपाल!'—उसके नेत्रोंसे अश्रु बह रहे थे। 'मूला! मूला!' रामदासने झकझोरा। मूला हड़बड़ाकर उठ बैठी।

'अरे! बड़ा विलम्ब हो गया, मूला!' गम्भीर होकर रामदासने कहा—'तीन दिनसे भोजन नहीं किया है। कैसी निर्बल हो गयी है। यदि तुझे कुछ हो गया तो तेरे गोपाल और राधा-बहूकी कौन सेवा करेगा। अपने स्वास्थ्यका तो ध्यान रख।'

मूला रो पड़ी। सुबकते हुए बोली, 'आप ही बताइये, मैं क्या करूँ। बच्चे भूखे रहें तो माँ कैसे खा सकती है।' वह उदास होकर कार्यमें लग गयी। उसने मधुर व्यञ्जनोंका थाल जैसे ही गोपालके आगे रखा, गोपालकी घूरती हुई आँखें उसे दिखायी दीं। वह बौखला उठी।

उसने पतिको बुलाकर कहा—'आप ताँगा ला दीजिये। मैं गोपाल और राधा-बहूको लक्ष्मीनारायणके मन्दिर छोड़कर आऊँगी। वहाँ सुमधुर पदार्थोंका भोग लगता है न! वहाँ ही इन्हें तृप्ति मिलेगी। सच कहती हूँ।' उसका गला भर आया। 'इसकी घूरती आँखें मेरी आत्माको कचोटने लगती हैं। मुझसे अब इन्हें भूखा नहीं देखा जाता। आँखों ओट तो पहाड़ ओट।'—कहकर वह रोती हुई सामान एकत्रित करने लगी।

ताँगा आ गया—'गोपाल, तू बड़ा निष्ठुर है न! तुझमें मोह-ममता नहीं है। ऐसे ही एक दिन यशोदामैयाको बिलखता छोड़कर चला गया था और आज मुझे ठुकराकर जा रहा है, निर्मोही!'

उसने आँसू पोंछे। ताँगेमें दोनोंको लेकर बैठ गयी। मन्दिरमें पहुँचकर सविनय पुजारीसे प्रार्थना की—'महाराज! मुझसे रूठ गया है यह।' वह रुँआसे स्वरमें बोली—'मैं गोपाल और राधा-बहूको सौंप रही हूँ। ये बीस रुपये और लें महाराज! इन दोनोंके भोजन, वस्त्र तथा प्रत्येक सुख-सुविधाका ध्यान रखियेगा।' वह आँसू पोंछती हुई लौट गयी

और पुजारी वृद्धाका वात्सल्य-भाव देखकर आश्चर्यान्वित हो उठा।

मूला अपने प्राणप्यारोंको छोड़ तो आयी, किंतु वह विक्षिप्त-सी हो गयी। उसे घर काटने लगा। जहाँ उसे प्रातःसे रात्रितक एक क्षणका अवकाश न मिलता था, वहाँ अब उसे समय काटने-सा लगा। वह थाल परोसकर खानेकी प्रार्थना करती, पालना झुलाती और गाती—'जसोदा हरि पालने झुलावै।' जब पालना रिक्त देखती, उसके नेत्रोंके समक्ष सारी घटना घूम जाती और वह फफक्-फफक्कर रो उठती; खान-पान उसे कुछ न सुहाता। रामदास कभी अपनी शपथ देकर, कभी गोपालकी सौगन्ध देकर उसे थोड़ा भोजन करा देता। गोपालकी स्मृति एक क्षणके लिये भी उसके मस्तिष्कसे न हटती। वह कभी खीझती, कभी प्रेममें भर जाती और कभी दीर्घ निःश्वास लेकर गोपालको पुकारती। रामदास मूलाकी मनोदशापर चिन्तित हो उठा और एक दिन बोला—'मूला! तू बड़ी कठोर है। तूने एक दिन भी अपने दुलारोंकी सुधि न ली। जाकर देखती, वे कुशलसे तो हैं!'

मूला विहँसकर मृदु स्वरमें बोली—'आप ठीक कहते हैं, मैं भी मान करके बैठ गयी। आज ही जाऊँगी।'

मूला मन्दिरमें पहुँच गयी। पुजारीजी नहीं थे। पट खुले थे। मूलाने देखा, एक ओर गोपाल और दूसरी ओर राधा-वधू थी। उसे अपना गोपाल तथा राधा-बहू दुर्बल दिखायी दिये। गोपालके नेत्र झुके हुए थे। उसके हृदयको आघात लगा। पुजारीने मेरे लाडलोंकी उपेक्षा की है। पुजारी होते तो मैं अपना आक्रोश निकालती। मूला उदास—खिन्नहृदय लौटी।

रात्रिको मूलाने स्वप्न देखा कि गोपालके नेत्रोंमें जल भरा है। वह उदास है। कह रहा है—'मैया! तू मुझे अपने पास ले आ। हमें वहाँ रहना नहीं सुहाता। सच कहता हूँ, मैया! तेरे बिना कुछ नहीं सुहाता। अब जैसा तू खिलायेगी, खा लूँगा। मैं अब घूरकर नहीं देखूँगा।'

'वह मुझे बुला रहा है।' मूला रो उठी। 'प्रातः होते ही जाऊँगी अपने लाडलोंको लेने। मुझे तो एक पल भी उनके बिना अच्छा नहीं लगता।'

प्रातः उठते ही मूलाने रामदासको स्वप्न सुनाया।

रामदास बोला—'मूला! मैं भी यही कहनेवाला था। दूकान अब चलने लगी है। किसी प्रकारका अभाव न रहेगा। तू आज ही दोनोंको ले आ। तेरी दशा देखकर मेरा हृदय फटा जा रहा था—कहीं मूलाको कुछ हो न जाय।'

'मुझे क्या होगा? मैं तो पत्थरकी हूँ। अपने लाडलोंसे अलग होनेपर भी मेरा अनिष्ट नहीं हुआ।'

पतिकी बात सुनकर मूलाके मनमें उत्साहकी लहर दौड़ गयी। वह शीघ्र ही स्नान करके तैयार हो गयी। उसने रसोईमें मधुर व्यञ्जन बनाये। अब मेरे बिछुड़े हुए लाडले घर आयेंगे! वह शीघ्र मन्दिरमें पहुँच गयी। पुजारीजीके चरणोंमें प्रणाम किया। 'महाराज!'—मूलाने नम्रतासे कहा—'मैं इन दोनोंको लेने आयी हूँ।' पुजारीजी संकोचमें पड़ गये। उन्होंने कभी दोनोंके वस्त्र भी नहीं बदले थे, न स्नान ही कराया था उन्हें। वे गोपालको देखते रहे।

मूलाने कहा—'मुझे दोनोंको दे दो, महाराज! विलम्ब न करो।'

'लो, माई!' पुजारीने कहा। मूलाने उन दोनोंको अपनी छातीसे लगा लिया। उसकी व्यथा शान्त हो गयी।

मूला फूली नहीं समा रही थी। घर आकर उसने दोनोंको स्नान कराके नवीन वस्त्र पहनाये एवं उनका शृङ्गार किया। व्यञ्जन खिलाये। उसने अनुभव किया, आज दोनों बड़े प्रसन्न हैं। रामदासने भी प्रसन्नता तथा संतोषकी साँस ली।

समय बीता। मूलाका शरीर थक गया। उसे ज्वर रहने लगा, फिर भी वह गोपालकी सेवामें लगी रहती थी। वह निर्बल हो गयी थी। ज्वरने जैसे उसके शरीरको निर्जीव बना दिया था। वह हाँफती-कराहती, फिर भी प्रसन्नतासे गोपालकी सेवामें लगी रहती। वह अपने लाडलोंको भिन्न-भिन्न प्रकारके मधुर पदार्थ बनाकर खिलाती। दोनोंको प्रेमसे भोग लगाते हुए देखकर वह प्रसन्नतासे झूम उठती।

एक दिन मध्याह्नका समय था। रामदास दूकानसे लौटा। उसने मूलाको पालना झुलाते देखकर पुकारा, किंतु मूला न बोली। वह समीप आया। उसने मूलाको झकझोरकर पुकारा, किंतु उसे कुछ भी उत्तर नहीं मिला। वहाँ मूला न थी। उसकी आत्मा नश्वर शरीरको त्यागकर गोपालमें लीन हो गयी थी! रामदासको यही भान हो रहा था, जैसे मूला पालनेकी डोरी झुलाते हुए गा रही है—'जसोदा हरि पालने झुलावै!'

विश्वासी भक्त

(लेखक—पं० श्रीशिवनाथजी दुबे)

'भगवान् जो कुछ करते हैं, अच्छा ही करते हैं'—परम पावनी नर्मदा-तट-निवासी क्षत्रिय-पुत्र गिरिवरके ये वचन सुनकर गाँववालोंको बड़ी चिढ़ होती। कहते—'माता-पिता जीवित हैं। गौरी-जैसी दक्ष गृहिणी है। ऊदा-जैसे योग्य पुत्रके साथ सुविधा-सम्पन्न घरमें ही यह बात निकलती है। आपत्ति आये, तब विदित हो जाय कि भगवान् सब कल्याण करते हैं या नहीं।'

और यह सत्य अस्वीकार भी कैसे किया जाय! जटिलतम परिस्थितियों एवं भयानक विपदाओंमें भी करुणामूर्ति प्रभुकी अनन्त करुणापर सुदृढ़ विश्वास हो, मन तनिक भी विचलित एवं व्यथित न हो—यही तो प्रभुका विश्वास है। किंतु गिरिवरकी सचमुच भगवच्चरणारविन्दोंमें अद्भुत प्रीति एवं अनुपम निष्ठा थी। भगवद्विश्वास उनमें कूट-कूटकर भरा था—'करुणामय प्रभुका प्रत्येक विधान मङ्गलमय है। वे जो कुछ करते हैं, शुभ और मङ्गलके लिये ही। मङ्गलमूर्ति दयाधाम अमङ्गल और अकल्याण कर ही कैसे सकते हैं?'

सहसा माता-पिता चल बसे। गिरिवर केवल इस कारण दुःखी हुए कि अब माता-पिताकी सेवासे उन्हें वञ्चित होना पड़ा। मन-ही-मन व्यथित होकर भी उन्होंने कहा—'मङ्गलमूर्ति प्रभु सदा मङ्गल ही करते हैं।'

कुछ ही दिन बीते, नर्मदामें स्नान करते समय ऊदाको मगरने पकड़ा और वह उसे जलमें ले गया। बालक ऊदा श्रीभगवान्‌को पुकारता रहा, पर कुछ न हो सका। अदृश्य हो गया वह।

करुण-क्रन्दन करती गौरी घर पहुँची। गिरिवर आराध्यकी पूजासे उठे ही थे। एकमात्र पुत्र ऊदाकी जल-समाधिका वृत्तान्त सुनते ही अभ्यासवश मुँहसे निकल गया—'भगवान् जो कुछ करते हैं, अच्छा ही करते हैं!'

फिर गिरिवरने अपनी धर्मपत्नीको समझाया—'ऊदाने सदा श्रीभगवान्‌की पूजामें सहायता की; वह प्रतिदिन कीर्तन करता। मगरके पकड़नेपर भी उसने भगवान्‌को पुकारा, अतएव वह निश्चय ही प्रभुके अक्षय सुख-शान्ति-निकेतनमें न गया होगा। पर यह भी निश्चित नहीं कि उसकी जीवन-लीला समाप्त हो ही गयी। विश्वास करो, दयामय भगवान् सब कल्याण ही करेंगे।'

माता-पिता एवं पुत्रके अभावमें गिरिवरने खेती बँटाईपर दे दी। उससे प्राप्त अन्नसे दम्पतिका जीवन-निर्वाह हो जाता। दोनों भजन पूजन एवं कीर्तन-स्मरणमें ही दिन व्यतीत करते। इस प्रकार गिरिवर और गौरी दोनों प्रसन्न रहने लगे, किंतु गौरी पुत्र-स्मृतिसे कभी-कभी व्याकुल हो जाती थी।

× × ×

उस प्रदेशके संतानहीन नरेश चन्द्रसेनकी प्राणप्रिय पत्नीका परलोकवास हो गया था। विरक्त होकर वे संन्यास लेनेका विचार कर ही रहे थे कि उनके पिताके (सिद्ध योगी) गुरुने उनके समीप आकर कहा—'तुम एक अनुष्ठान करो। उससे तुम्हें एक सुयोग्य पुत्रकी प्राप्ति होगी। राजतिलकके क्षणतक उसे अपने माता-पिताकी स्मृति नहीं रहेगी। तुम उसे समुचित शिक्षा प्रदानकर राज्य-पदपर अभिषिक्त कर देना। तदनन्तर तुम्हारे संन्यास ग्रहण करनेमें आपत्ति नहीं।'

राजा चन्द्रसेनने गुरुजीके साथ अरण्यमें जाकर अनुष्ठान किया। अनुष्ठान पूर्ण होनेपर वे नावमें बैठे हुए नर्मदाजीमें मछलियोंको अन्न खिला रहे थे, उसी समय उन्होंने बहते हुए एक बालकको देखा। राजाने प्रयत्न करके तुरंत उसे अपनी नावपर चढ़ा लिया।

बालकके पैरमें जल-जन्तुके काटनेसे घाव हो गया था। राजाने उसकी चिकित्साकी सुव्यवस्था की। इक्कीस दिन मूर्च्छित रहनेके अनन्तर बालकको होश आया। उसका घाव भी अच्छा हो गया।

वह बालक था, गिरिवर-पुत्र ऊदा। ऊदाको पकड़कर मगरने जब डुबकी लगायी तो दूसरे मगरने उसपर आक्रमण कर दिया। ऊदा मगरके मुँहसे छूटकर बह चला था।

ऊदा अपने माता-पिताको भूल गया था। राजा चन्द्रसेनने उसका नामकरण किया—उदयराज। राजाने उसे समझाया—'तुम मेरे पुत्र हो और तुम्हारी माता कमलादेवी-का स्वर्गवास हो चुका है।'

राजाने उदयराजकी शिक्षाकी व्यवस्था की। अत्यन्त प्रतिभाशाली उदयराज राज्योचित योग्यतामें पारंगत हो गये। विजयनगर-नरेशकी रूप-गुण-सम्पन्ना पुत्रीसे उनका विवाह हो गया। महाराज चन्द्रसेन उदयराजको राज्य-पदपर आसीनकर संन्यास ग्रहणकर तपश्चरणार्थ वनमें चले गये।

× × ×

एक बार अवर्षणके कारण भयानक अकाल पड़ा। अन्नऔर तृणके बिना मनुष्य और पशु काल-कवलित होने लगे। घरकी सामग्री बेच देनेपर भी जब निर्वाहका कोई मार्ग शेष नहीं रहा, तब गिरिवरने श्रीठाकुरजीकी पूजाके दायित्वके साथ

अपनी सहधर्मिणी गौरीकी बहुमूल्य नथ पुरोहितजीको देकर स्वयं पत्नीसहित भगवत्स्मरण करते हुए घरसे निकल पड़े।

'भगवान् जो कुछ करते हैं, कल्याण ही करते हैं'— अत्यन्त दारुण स्थितिमें भी अद्भुत विश्वासी भक्त गिरिवरके मुखसे तुरंत निकला। गाँवके बाहर वे सपत्नीक वृक्षके नीचे सोये थे कि पत्नीको काले नागने डँस लिया। वह विषसे छटपटाती हुई भगवत्स्मरण करती रही; अन्तमें उसका श्वास रुक गया। गिरिवर रातभर पत्नीके शवके समीप बैठे भगवन्नाम-कीर्तन करते रहे और प्रातःकाल शवको कंधेपर उठाकर नर्मदाजीमें प्रवाहित कर आगे बढ़ चले—सर्वथा निरुद्विग्न, सर्वथा स्थिर एवं शान्त!

अब गिरिवर अकेले थे—सर्वथा एकाकी। वैराग्य तीव्रतम हो उठा। वे प्रभु-दर्शनके लिये व्याकुल होने लगे। अब तो उन्हें अपने तन-मनकी भी सुधि नहीं थी। वे अहर्निश प्रभुके लिये व्याकुल रहते। एक दिन वे एक वृक्षके नीचे बैठे-बैठे करुण-क्रन्दन करने लगे। प्रभुके लिये रोते-छटपटाते वे मूर्च्छित हो गये।

लीलाधारी द्रवित हुए। नर्मदाके स्थानपर कालिन्दी प्रकट हो गयी। वन दिव्य वृन्दावनमें परिणत हो गया। सम्मुख कदम्बके नीचे पीताम्बरपरिवेष्टित मयूरपिच्छधारी त्रिभङ्गश्यामसुन्दर अधरोंपर वंशी रखे अमृत-रसकी वर्षा कर रहे थे! जड-चेतन, सभी आनन्दमग्न थे। त्रिभुवनसुन्दरकी अलौकिक रूप-माधुरीके दर्शनकर गिरिवर जड-से हो गये। उनके हृदयमें आनन्दाम्बुधि लहरें ले रहा था। वाणी अवरुद्ध थी।

'तू मुझे अत्यधिक प्रिय है।' अमृतमयी वाणीमें मन-मोहनने कहा—'तेरे बिना मुझे अच्छा नहीं लगता, इसी कारण यहाँ दिव्य वृन्दावन प्रकट हुआ है। अब तू मेरे धामको चल। गौरी अभी जीवित है। उसके मनमें पुत्रके प्रति ममता शेष है। अतएव वह अपने ऊदासे मिलकर मेरे धाम आयेगी।'

वनमालीके इतना कहते ही गिरिवरका शरीर ज्योतिर्मय हो उठा। सहसा शरीरसे ज्योतिः-पुञ्ज निकलकर श्रीश्याम-सुन्दरके चरणोंपर गिर पड़ा। श्रीश्यामसुन्दरने उसे वक्षसे लगाया और दिव्य वृन्दावनके साथ वे अन्तर्धान हो गये। अरण्यमें गिरिवरके शरीरकी रक्षाका दायित्व वनदेवीपर रहा।

× × ×

गिरिवर-पत्नी गौरीका शव नर्मदाकी धारामें बहता चला जा रहा था। वह आठ दिनतक बहता ही रहा। भगवान्की दयासे उसे किसी पक्षी या जल-जन्तुने स्पर्श तक नहीं किया। आठवें दिन स्नान करते हुए एक महात्माने शवमें जीवनका अनुमानकर उसे पकड़ लिया। वे उसे बाहर ले आये। अभिमन्त्रित जलके छींटेसे गौरीकी चेतना लौट आयी। जब महात्माने उसे सिद्ध फल खानेको दिया तो उसमें शक्तिका संचार तो हुआ ही, उसके संस्कारोंका बोझ भी उतर गया।

महात्मा दिव्यदर्शी थे। उन्होंने गौरीसे उसके पतिके परमधाम-गमनकी बात बतायी। गौरीने कहा—"मेरे पूज्य पतिदेव सदा, सर्वथा ठीक कहते थे कि 'भगवान् जो कुछ करते हैं, कल्याण ही करते हैं।' यदि मैं उनके साथ होती तो उन्हें परमप्रभुकी प्राप्ति सम्भव नहीं थी।"

महात्माके बताये स्थानपर गौरी अपने पतिके निष्प्राण देहके समीप पहुँची। वहाँ चार ब्रह्मचारी भी उपस्थित हो गये। ब्रह्मचारियोंके सहयोगसे गौरीने पतिका दाह-संस्कार कर उन्हें जलाञ्जलि दी। तदुपरान्त वह गैरिक वस्त्र धारणकर, हाथमें इकतारा ले, आनन्दमग्न हो, भगवन्नाम-कीर्तन करती हुई यत्र-तत्र भ्रमण करने लगी। इस प्रकार वह असङ्गभावसे एक नगरमें प्रविष्ट हुई। वहाँ अत्यधिक उल्लाससे उत्सव मनाया जा रहा था।

वह नगर महाराज चन्द्रसेनका था। वे कल ही उदयराजका राज्याभिषेक कर वनमें चले गये थे। उन्होंने उदयराजको उसके जलमें मिलनेकी सत्य घटना भी सुना दी थी। उसी रात्रि उदयराजने स्वप्नमें अपनी माता गौरीको संन्यासिनीके वेषमें देखा था। अतएव नगरमें सर्वत्र घोषणा कर दी गयी थी कि 'किसी संन्यासिनीके नगरमें प्रविष्ट होते ही नरेशको तुरंत सूचना दी जाय।'

समाचार मिलते ही उदयराज दौड़े। माताको देखते ही उसके चरणोंपर गिर पड़े—'माँ! माँ!!' उदयराजके आँसुओंसे गौरीके चरण धुल गये।

गौरीने पुत्रको उठाकर वक्षसे सटा लिया—'ऊदा! मेरा प्राणप्रिय ऊदा!!'

गौरी राज-सदन पहुँची। उदयराजने अपना वृत्तान्त सुनाया। माताने उससे पतिकी भगवत्प्राप्तिकी बात कही। उदयराजने प्रसन्नमन कहा—"पिताजी सच कहते थे कि 'प्रभु सदा मङ्गल ही करते हैं।'"

पुत्रके मिल जानेपर गौरीकी आसक्ति नष्ट हो गयी। अत्यधिक विरक्तिके कारण वह भजनके लिये अरण्यमें जाना चाहती थी, किंतु पुत्रके आग्रहसे नगरके बाहर एक कुटियामें रहकर निरन्तर भजन करने लगी। गौरीकी भगवत्प्रीति पराकाष्ठापर पहुँची और दयामय प्रभुने उसे प्रत्यक्ष दर्शन देकर कृतार्थ कर दिया। प्रभुका दर्शन करते-करते ही उसने अपना नश्वर शरीर त्याग दिया।

उदयराज भी सपत्नीक प्रभु-भजन करते हुए अपना जीवन व्यतीत करने लगे।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

देशकी प्रतिष्ठाका ध्यान

आचार्य काका कालेलकर एक बार जापान गये। जापानी लोग बड़े सौन्दर्यप्रिय हैं। प्रायः प्रत्येक घरमें एक पुष्प-वाटिका रहती है। जिन घरोंमें पुष्प-वाटिकाकी व्यवस्था सम्भव नहीं हो पाती, उन घरोंमें फूलोंकी कलात्मक एवं मनोहारिणी सजावट तो होती ही है। पुष्पोंकी सार-सँभाल एवं पुष्पोंकी कलात्मक सज्जाके सम्बन्धमें वहाँ प्रचुर साहित्य उपलब्ध होता है।

काका साहेब जापानियोंकी पुष्प-सज्जासे बहुत प्रभावित हुए। स्वदेश लौटते समय इस कलापर एक उत्तम पुस्तक अपने साथ लानेकी दृष्टिसे काका साहेब एक प्रसिद्ध पुस्तक-विक्रेताके यहाँ गये। दूकानदारने उन्हें पुष्प-सज्जाके सम्बन्धमें कई बड़ी ही सुन्दर पुस्तकें दिखायीं। काका साहेबने उनमेंसे एक पुस्तक पसंद की। उस पुस्तककी जिल्द कुछ पुरानी-सी हो गयी थी। काका साहेबने दूकानदारको उसकी दूसरी प्रति देनेको कहा।

दूकानदारने अपने स्टाकको देखा, पर उसे उस पुस्तककी दूसरी प्रति नहीं मिली। उसने काका साहेबसे कहा—'महाशयजी! कृपया क्षमा कीजिये; इस पुस्तककी दूसरी प्रति इस समय मेरे पास नहीं है। आप अपना पता कृपया मुझे नोट करवा दें, मैं ३-४ दिनमें पुस्तककी व्यवस्था करके आपके पास भिजवा दूँगा।'

काका साहेब दूसरे ही दिन स्वदेश लौटनेवाले थे; अतः उन्होंने दूकानदारसे कहा—'आप मुझे यही प्रति दे दें। मैं कल शामको अपने देश लौटनेवाला हूँ। शो-केशमें रहनेके कारण इसकी जिल्द सामान्यरूपसे गंदी हुई है, और कोई त्रुटि तो इसमें है नहीं।'

दूकानदार—'महाशयजी! मुझे क्षमा करें। मैं यह प्रति आपको नहीं दे सकता। यह पुस्तक मेरे राष्ट्रका प्रतीक है। खराब जिल्दवाली पुस्तक देनेसे मेरे देशकी प्रतिष्ठापर आँच आयेगी। मैं आपको चेष्टा करके कल दोपहरतक इसकी अच्छी प्रति अवश्य भिजवा दूँगा।'

काका साहेब दूकानदारके इस उत्तरसे बहुत प्रभावित हुए। अपने देशकी प्रतिष्ठाके लिये एक दूकानदार कितना सावधान है, यह देखकर वे दंग रह गये। उन्होंने दूकानदारकी भावनाका आदर किया और इसके लिये उसे धन्यवाद दिया। अपना पता दूकानदारको नोट करवाकर वे अपने स्थानपर लौट आये। दूसरे दिन दोपहरको दूकानदारका आदमी आया और काका साहेबको उस पुस्तककी अच्छी प्रति दे गया।

पुस्तककी जिल्द देखकर काका साहेब बहुत प्रसन्न हुए।

(२)

सहृदयता

सन् १९६१ की बात है। उन दिनों मैं गुजरातके एक माध्यमिक विद्यालयमें अध्यापक था। वाराणसीके एक पण्डितजी, जो शास्त्री थे, विद्यालयमें संस्कृतके अध्यापक थे। हम दोनोंमें बड़ा सद्भाव था, किंतु अचानक किसी बातको लेकर मेरे मनमें श्रीशास्त्रीजीके प्रति दुर्भाव हो गया। श्रीशास्त्रीजीने मेरे असंतोषको दूर करनेका प्रयत्न किया, परंतु मैं अपने साथियोंके प्रभावके कारण उनके सद्भावको ग्रहण नहीं कर सका। हम दोनोंमें बोल-चालका सम्बन्ध भी नहीं रहा।

एक दिन घरसे मेरे पिताजीका तार आया। तीन सौ रुपये लेकर मुझे शामकी गाड़ी पकड़ना आवश्यक था। उस गाँवमें मैं अभी नया था, अतएव किसीसे घनिष्ठ सम्बन्ध न होनेके कारण इतने रुपये उधार मिलने कठिन थे। मेरी परेशानीसे सभी साथी परिचित थे, पर उनमेंसे किसीने भी सहयोगका हाथ नहीं बढ़ाया। इस कार्यके लिये श्रीशास्त्रीजीके पास जानेका तो मेरे मनमें प्रश्न ही नहीं था।

स्टेशन जानेमें एक घंटेका समय शेष था; मैं बेहद परेशान था। अचानक मेरे एक साथी आये। मेरे हाथमें ३०० रुपये देते हुए वे बोले—'मेरे पास तो रुपये थे नहीं, किसी दूसरे व्यक्तिने सहृदयताके कारण रुपयेकी व्यवस्था कर दी है।'

मैंने अपने साथी तथा उन अज्ञात सज्जनके प्रति आभार प्रकट किया। मित्र चुप रहा। मैं रुपये लेकर घर गया।

पिताजीने जिस आवश्यक कार्यके लिये बुलाया था, वह भली-भाँति सम्पन्न हो गया।

कुछ दिनों पश्चात् श्रीशास्त्रीजीको वाराणसीमें नौकरी मिल गयी और वे विद्यालयके कामसे त्यागपत्र देकर वाराणसी जाने लगे। विद्यालयके सभी अध्यापकोंने मिलकर श्रीशास्त्रीजीको विदाईके अवसरपर पार्टी दी तथा सब लोग उन्हें विदा करनेके लिये स्टेशनपर गये। मैं तो श्रीशास्त्रीजीसे असंतुष्ट था; अतएव न तो मैं पार्टीमें शामिल हुआ, न उन्हें विदा करनेके लिये स्टेशन ही गया।

किंतु विदा होनेके एक घंटे पूर्व श्रीशास्त्रीजी स्वयं मेरे घरपर आये और बड़े स्नेहसे मुझसे मिले। उन्होंने कहा—'बन्धुवर ! कबतक रूठे रहोगे ? अब तो मैं सदाके लिये यहाँसे जा रहा हूँ। अब कुछ तो बोलो; न मालूम क्यों मेरा मन तुम्हें भूल नहीं पाता। मुझे तो तुम हमेशा याद आते रहोगे।' श्रीशास्त्रीजीके इन स्नेहभरे शब्दोंका भी मेरे कठोर हृदयपर विशेष प्रभाव नहीं हुआ। मैं अन्यमनस्क रहा और श्रीशास्त्रीजीने अभिवादन करते हुए मुझसे विदाई ली।

दो महीने बीत गये। विद्यालयसे मुझे दो माहका वेतन एक साथ मिला। मैं तीन सौ रुपये अपने साथीको देने उसके घरपर गया। साथीको रुपये देकर मैं कृतज्ञतावश उसके पास बैठ गया। साथीने उसी समय श्रीशास्त्रीजीके नाम वाराणसी तीन सौ रुपयेका मनीआर्डर लिख डाला। मैं यह देखकर आश्चर्यचकित रह गया। मैंने साथीको उपालम्भ देते हुए कहा—'दोस्त ! श्रीशास्त्रीजीसे तुमने मेरे लिये तीन सौ रुपये उधार क्यों माँगे ? मैं तो उनसे बोलनातक नहीं चाहता था।'

साथी मेरी ओर ताकता रहा। थोड़ी देर बाद उसने कहा—"तुम श्रीशास्त्रीजीके हृदयकी सहृदयताको नहीं पहचान सके; उनका तुम्हारे प्रति सदा सद्भाव रहा। जब तुमको तीन सौ रुपयोंकी आवश्यकता हुई तो श्रीशास्त्रीजी बेचैन हो गये। उनके पास तीन सौ रुपये थे। वे स्वयं मेरे पास रुपये लेकर आये और बोले—'ये तीन सौ रुपये आप उन्हें दे आइये, पर मेरा नाम मत बतलाइयेगा; कारण, वे मुझसे रूठे हुए हैं। सम्भव है, मेरा नाम लेनेपर वे रुपये स्वीकार न करें। उनका काम निकलना चाहिये; नामकी मुझे आवश्यकता नहीं है।'"

साथीके मुखसे श्रीशास्त्रीजीकी सहृदयताकी बात सुनकर मेरा हृदय ग्लानिसे भर आया कि मैं एक स्वजनके हृदयके स्नेहको बराबर ठुकराता रहा ! बहुधा हम अपनी मलिन आँखसे दूसरेके गुणोंको नहीं परख पाते और उनके प्रति अन्यथा धारणा बना लेते हैं। उस दिनसे मैं श्रीशास्त्रीजीका श्रद्धालु बन गया हूँ।

'अखण्ड आनन्द' —प्राध्यापक चन्द्रकान्त त्रिवेदी

(३)

'मैं तुम्हारे पिताजीके नमकको कैसे भूल सकता हूँ !'

घटना लगभग ५० वर्ष पुरानी है। उन दिनों बीकानेर राजस्थानकी प्रसिद्ध रियासत थी। इसी रियासतके एक गाँवमें एक दिन सायंकाल एक प्रौढ़ व्यक्ति एक ठाकुर साहबके घर पहुँचा और उनसे रात्रिके भोजनके लिये कहा। ठाकुर साहब सहृदय व्यक्ति थे; अतिथियोंके प्रति उनके हृदयमें आदरबुद्धि थी। अतएव बिना विशेष परिचय पूछे उन्होंने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। थोड़ी देरमें भोजनका समय हुआ। ठाकुर साहबने अपनी इकलौती बेटीको पुकारा और कहा—'मैं तथा तुम्हारे ये चाचाजी, जो अभी आये हैं, दोनों भोजन करेंगे।' लड़कीने भीतर जाकर दो आसन लगाये। ठाकुर साहब तथा अतिथि महोदय, दोनों भोजन करने बैठे। ठाकुर साहबकी पत्नी भोजन बना रही थी और लड़की भोजन ला-लाकर परोस रही थी। वह बड़े ही स्नेह एवं आग्रहके साथ अपने पिताजी एवं 'चाचाजी' से एक-एक वस्तु लाकर पूछती थी। दोनोंने बड़ी ही तृप्तिके साथ भोजन किया। भोजनके पश्चात् अतिथि महोदयने विदा ली।

दो-तीन वर्ष पश्चात् लड़कीका विवाह एक सम्पन्न घरानेमें हो गया और वह अपनी ससुराल चली गयी। किसी आवश्यक कार्यसे ससुरालके पुरुष-सदस्य कहीं बाहर गये हुए थे कि उसी दिन अचानक दस-पंद्रह डाकुओंने घरमें प्रवेश किया। औरतें सब घबरा गयीं। अड़ोस-पड़ोसके लोगोंमेंसे किसीकी भी हिम्मत नहीं हुई कि सशस्त्र डाकुओंका मुकाबला करे। डाकुओंने बंदूक दिखा-दिखाकर सब गहने और कीमती वस्त्र निकलवा लिये। डाकू लोग सब सामान बाँधकर घोड़ोंपर लादनेवाले ही थे कि अचानक उस लड़कीकी दृष्टि डाकुओंके सरदारपर पड़ी। उसने उसे

गौरसे देखा तो लगा कि ये तो वे ही सज्जन हैं, जिन्होंने दो-तीन वर्ष पूर्व उसके पिताजीके साथ रात्रिमें भोजन किया था। उसने साहस बटोरा और सामने आकर डाकुओंके सरदारको सम्बोधित करके कहा—'चाचाजी ! आप हमारे घर डाका डालने आये हैं ?' डाकू एक लड़कीके मुखसे ऐसा प्रश्न सुनकर चौंक पड़ा और उसने पूछा—'तू कौन है ?' लड़कीने बताया—"मैं अमुक ठाकुरकी बेटी हूँ। आप दो-तीन वर्ष पूर्व सायंकाल हमारे घरपर आये थे और पिताजीने आपका परिचय देते हुए कहा था—'ये तुम्हारे चाचाजी हैं।' पीछे आप तथा पिताजी—दोनोंने भोजन किया था।" सरदारको पूरी घटनाका स्मरण हो आया। उसने मनमें सोचा—'मैंने इसके पिताका नमक खाया है तथा उस लड़कीको बेटी कहा है; भला, मैं उसके घरका सामान कैसे लूट सकता हूँ ?' उसने तत्काल लड़कीसे कहा—'बेटी ! मैं तुम्हारा वही चाचा हूँ। मैंने तुम्हारे पिताजीका नमक खाया है। मैं उस नमकको कैसे भूल सकता हूँ ! तुम घबराओ मत; मैं तुमलोगोंका सारा सामान वापस कर रहा हूँ। तुमलोग इसे सँभाल लो।'

पीछे उसने अपने साथियोंसे कहा—'तुमलोगोंके पास जो कुछ हो, वह निकालो।' सब डाकुओंने अपने-अपने पासकी रकम निकालकर दी। कई हजार रुपये इकट्ठे हो गये। सरदारने लड़कीसे कहा—'बेटी ! अपने चाचाका यह उपहार तुम रख लो।'

लड़की संकोचमें पड़ गयी, पर सरदारने आग्रहपूर्वक वे सब रुपये उसे दे दिये। चलते-चलते सरदारने कहा—"बेटी ! हमलोग जा रहे हैं। यदि कभी कोई तुम्हारे घर डाका डालने आवे तो तुम उनसे कह देना—'अमुक सरदार मेरा चाचा है।' मेरा नाम सुनकर कोई भी डाकू तुम्हारे यहाँ डाका डालनेका साहस नहीं करेगा।"

गाँवके लोगोंने जब पूरी घटना सुनी तो वे डाकुओंके सरदारकी प्रशंसा करने लगे कि एक समयके आतिथ्यके प्रति वह कितना कृतज्ञ रहा !

(४)

मृत व्यक्तिके लिये श्राद्ध-तर्पण करना परमावश्यक है

घटना पुरानी है। अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओंके ज्ञाता एक सज्जन परमश्रद्धेय श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके पास आये। श्रीभाईजीने उनका बड़े ही आदरके साथ स्वागत किया। अपने आनेका हेतु बतलाते हुए वे सज्जन बोले—"महाशयजी ! मैं 'कल्याण' बड़े चावसे पढ़ता हूँ, किंतु उसमें लिखी एक विशेष बातसे मेरी सहमति नहीं है। आपके लेखोंमें मैं बराबर पढ़ता रहता हूँ कि 'मृत व्यक्तियोंके लिये श्राद्ध-तर्पण आदि अवश्य करने चाहिये।' इस विषयमें आपका आग्रह देखकर मेरे मनमें कई बार खीझ भी हुई है और मैंने अपने मित्रोंसे यहाँतक कहा है कि 'श्रीहनुमानप्रसादजी शायद ब्राह्मण हैं, तभी वे श्राद्ध आदिके लिये इतने आग्रहके साथ लिखते हैं।' मैं गोरखपुर किसी कार्यसे आया था। मनमें आया, अपने असंतोषको आपके सामने व्यक्त करूँ। सम्भव है, आप मेरी बात मानकर भविष्यमें इस प्रकारकी बातें 'कल्याण' में नहीं लिखेंगे। मैं मृत पुरुषोंके लिये श्राद्ध-तर्पण आदि सर्वथा व्यर्थ समझता हूँ।"

श्रीभाईजीने आगन्तुक सज्जनकी बातें बड़े ही शान्तभावसे सुनीं और अपनी सहज प्रसन्न मुद्रामें वे उनसे बोले—"आपने दर्शन दिये, बड़ी कृपा की। मैं ब्राह्मण जातिमें उत्पन्न नहीं हूँ। 'पोद्दार' मारवाड़ी वैश्योंका एक वर्ग है; मेरा जन्म वैश्य जातिमें हुआ है। रही श्राद्ध-तर्पणके विषयकी बात, सो मैं उसे सर्वथा उचित एवं आवश्यक मानता हूँ और इसीलिये उसके सम्बन्धमें 'कल्याण'में आग्रहपूर्वक लिखता हूँ। मैं इस बातका विशेष ध्यान रखता हूँ कि 'कल्याण'द्वारा ऐसी ही मान्यताओंका प्रचार हो, जिनके विषयमें शास्त्रों और संतोंका आदेश हो एवं मान्य व्यक्तियोंका अनुभव हो।"

आगन्तुक सज्जनने श्रीभाईजीके स्पष्टीकरणको सुना और उत्तेजित होकर बोले—'ठीक है, दूसरोंके अनुभवके आधारपर आप किसी मान्यताका समर्थन कर सकते हैं, पर उसकी भाषा ऐसी होनी चाहिये, जिसमें पुनर्विचारकी गुंजाइश हो। आप श्राद्ध-तर्पणके लिये जिस आग्रहपूर्ण भाषामें लिखते हैं, उस रूपमें अपने व्यक्तिगत अनुभवके आधारपर ही लिखना चाहिये; बिना व्यक्तिगत अनुभवके वैसी भाषाका प्रयोग सर्वथा अनुचित है। आप-जैसे वयोवृद्ध विद्वान् सम्पादकके लिये यह शोभनीय नहीं है।'

श्रीभाईजी उन सज्जनके रोषभरे शब्दोंको स्थिरचित्तसे सुनते रहे। बात पूरी होनेपर उन्होंने अपने दोनों हाथ जोड़ लिये और उन सज्जनसे बोले—"महाशयजी ! आपका कहना सत्य है, पर मैं 'कल्याण'में किसी बातके लिये आग्रहपूर्वक

तभी लिखता हूँ, जब मेरे पास उसकी सत्यताके ठोस प्रमाण हों। श्राद्धके सम्बन्धमें मेरे पास ऐसा ठोस प्रमाण है कि उसके समक्ष मैं किसीकी भी बात माननेको तैयार नहीं हूँ। मैं उस ठोस प्रमाणको सार्वजनिक रूपसे प्रकट करनेमें संकोच अनुभव करता हूँ। यही कारण है कि आजतक मैंने उसके सम्बन्धमें कभी 'कल्याण'में कुछ भी नहीं लिखा। पर आज जब आप इतने स्पष्ट रूपमें मेरी मान्यताको असत्य बता रहे हैं, तब मैं उसे आपके सामने स्पष्ट कर रहा हूँ। आपसे मेरी विनम्र प्रार्थना है कि मेरे जीवनकालमें आप इसे अन्य किसी व्यक्तिके समक्ष व्यक्त न करें। आजके युगमें इस प्रकारकी घटनाएँ बताकर अनेक व्यक्ति समय-समयपर अपना स्वार्थ साधते रहते हैं और इसी कारण लोगोंका ऐसी घटनाओंके सम्बन्धमें जल्दी विश्वास नहीं होता।''

श्रीभाईजीके इन तथ्यपूर्ण शब्दोंका उन सज्जनपर बड़ा प्रभाव हुआ। वे बोले—'श्रीभाईजी! मेरा विश्वास है कि आप सत्यनिष्ठ व्यक्ति हैं; आप कभी भी झूठका आश्रय नहीं ले सकते। अतएव आप जो कहेंगे, उसपर मेरा अटल विश्वास होगा। आप निःसंकोच अपना अनुभव सुनाइये।'

श्रीभाईजीने कहा—''सन् १९२५ के आस-पासकी बात है। मैं उन दिनों बंबईमें व्यापार करता था। सायंकाल भोजन करनेके पश्चात् लगभग आठ बजे घरसे निकल जाता था और चौपाटी-स्टैंडमें जो बहुत-सी बेंचें पड़ी रहती थीं, वहाँ बैठकर नाम-जप एवं भगवच्चिन्तन किया करता था। वह स्थल बिल्कुल एकान्त था तथा प्रकाश अधिक न रहनेसे वहाँ अँधेरा-सा रहता था। यह मेरा प्रतिदिनका काम था। एक दिन मैं एक बेंचपर पैर फैलाकर बैठा था और नाम-जप कर रहा था। अचानक मेरी बेंचके ठीक सामने मेरे पैरोंकी तरफ एक पारसी सज्जन खड़े दिखायी दिये। वे सफेद कपड़े पहने हुए थे। पारसियोंमें जो पुरोहित होते हैं, वे विशेष प्रकारकी पोशाक पहनते हैं। वे वैसी ही पोशाक पहने हुए थे। मैं अपना नाम-जप करता रहा और वे सज्जन सामने खड़े रहे। वे बहुत देरतक उसी रूपमें खड़े रहे, पर मैं चुप रहा और नाम-जप करता रहा। बहुत देर होनेपर मेरे मनमें आया कि 'एक भले आदमी सामने खड़े हैं और इन्हें इसी प्रकार खड़े बहुत देर हो गयी है; अतएव इनको बैठनेके लिये कह दिया जाय।' ऐसा विचार आते ही मैंने उनसे कहा—'साहेबजी! आप बैठ जाइये। खड़े-खड़े आपको बहुत देर हो गयी।' मेरे इतना कहनेपर वे बोले—'आप डरियेगा नहीं, मैं प्रेत हूँ।' उन सज्जनने ज्यों ही अपनेको 'प्रेत' बतलाया, मैं भयभीत हो गया; मुझे पसीना हो आया। वे समझ गये कि मैं डर रहा हूँ। उन्होंने फिर कहा—'आप डरिये नहीं, मैं आपका अनिष्ट नहीं करूँगा। मैं तो आपको धर्मात्मा पुरुष मानकर सहायताकी याचना करने आया हूँ। आप मेरी सहायता कीजिये, आपका मङ्गल होगा।' उनके इस आश्वासनसे मैं कुछ आश्वस्त हुआ। पीछे उन्होंने कहा—'यदि आप मुझसे पहले बात नहीं करते तो मैं बोल नहीं पाता; क्योंकि मुझमें यह शक्ति नहीं है कि बिना किसीके पहले बात किये मैं अपनी ओरसे इस जगत्के लोगोंसे बोल सकूँ। यही हेतु है कि मैं इतनी देर प्रतीक्षा करता रहा कि आप बोलें। प्रेतलोकमें अनेक स्तर हैं। प्रेतोंके अनेक प्रकारके अधिकार हैं, उनकी विभिन्न शक्तियाँ हैं। कोई प्रेत सभी जगह आ-जा सकते हैं, कोई नहीं आ-जा सकते। कोई अनेक काम कर सकते हैं, कोई नहीं कर सकते। जैसे इस लोकमें मनुष्योंके अलग-अलग अधिकार हैं, शक्तियाँ हैं, बल है, वैसे ही वहाँपर हैं। मैं प्रेतयोनिमें हूँ। मैं सब जगह जा सकता हूँ, सबको दिखायी दे सकता हूँ, पर मुझसे पहले कोई बोले नहीं तो मैं बोल नहीं सकता। मैं पारसी हूँ, पर मेरी हिंदूशास्त्रोंमें श्रद्धा है। मेरी मृत्यु अभी हालमें ही हुई है। प्रेतलोकमें मेरी स्थिति अच्छी नहीं है। आप कृपा करके किसीको गया (बिहारका एक प्रसिद्ध प्राचीन तीर्थ) भेजकर मेरे लिये पिण्डदान करवा दें तो मेरी सद्गति हो जायगी।' मैंने उनसे प्रश्न किया—'गयामें हिंदुओंके द्वारा श्राद्ध किया जाता है। आप पारसी हैं, आपलोग श्राद्धपर विश्वास नहीं करते, फिर श्राद्ध करानेकी बात कैसे कहते हैं?''

''प्रेतने उत्तर दिया—'सत्य यदि सत्य है तो वह जाति-सापेक्ष नहीं है। भिन्नता जातिमें होती है। जाति तो यहाँके व्यवहारको लेकर है, जीवमें जातिका भेद नहीं होता।

जीवमें पारसी, हिंदू, ईसाईका सवाल नहीं। जिस जीवको प्रेत बनना होता है, वह बनता ही है।'

"पीछे तो मैंने उनसे बहुत-सी बातें पूछीं—जैसे प्रेतलोककी स्थितिके सम्बन्धमें, वहाँके जीवनके सम्बन्धमें, कर्मोंके फलके बारेमें आदि-आदि। उन्होंने सब बातोंका सविस्तर उत्तर दिया। अब मैं उन बातोंमेंसे अधिकांशको भूल गया हूँ, पर मुख्य बात मुझे स्मरण है। उन्होंने बताया—'किसीके प्रति वैर लेकर मरनेवालेकी बहुत दुर्गति होती है; उसे नरकोंमें बड़ा कष्ट होता है।' मैंने उनसे पूछा—'क्या नरक सत्य है?' वे बोले—'हाँ, सब सत्य है।' फिर उन्होंने कहा—'जीवनमें किसीके प्रति द्वेष रहा हो तो मरनेसे पहले उससे क्षमा माँग ले तथा अपने मनसे उसके प्रति वैरभावका त्याग कर दे। जो धनके लिये किसी दूसरेकी हत्या करता है, उसकी बड़ी दुर्गति होती है। किसीको आश्वासन देकर न देनेवालेकी भी दुर्गति होती है। व्यभिचारीकी भी बड़ी दुर्गति होती है।'

"उन्होंने यह भी बतलाया कि 'प्रेतलोकके प्राणियोंके लिये अन्न-जल-वस्त्रादिका दान उनके नामपर घरवालों एवं मित्रोंको सदा करते रहना चाहिये। वहाँ उनके अंदर वासना होती है, जो यहाँ दान देनेसे ही पूर्ण होती है। प्रेतोंके उद्धारके लिये तथा उनको सद्गतिकी प्राप्ति करानेके लिये श्राद्ध एवं पिण्डदान, गया-श्राद्ध, अपने-अपने धर्मानुसार भगवान्की प्रार्थना करने आदिसे उन्हें बहुत लाभ होता है।'

"और भी बहुत-सी बातें उन्होंने बतायीं। फिर उन्होंने अपने बंबईके स्थानका नाम-पता बतलाया। इतना वार्तालाप करनेके पश्चात् वे अन्तर्धान हो गये। मैं घर लौट आया। दूसरे दिन उनके कथनानुसार मैंने उनका पता लगाया। बंबईके बाँद्रा नामक अञ्चलमें वे रहते थे। छः महीने पहले उनकी मृत्यु हुई थी। उनका नाम आदि सब मिल गया। वे पारसी होनेपर भी गीताका पाठ किया करते थे। सब बातोंका ठीक-ठीक पता लग जानेपर मैंने अपने पास रहनेवाले एक ब्राह्मणको, जिनका नाम श्रीहरिराम था, उनका गयामें श्राद्ध एवं पिण्डदान करनेके लिये भेजा। श्रीहरिरामने गयामें जाकर उन पारसी सज्जनका पिण्डदान और श्राद्ध किया। जिस दिन गयामें उनके लिये पिण्डदान हुआ, उसी दिन चोपाटीमें ही उन पारसी सज्जनके फिर दर्शन हुए और उन्होंने कहा—'मैं आपके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने आया हूँ। आपने मेरा काम कर दिया। अब मैं प्रेतलोकसे उच्चलोकमें जा रहा हूँ।' मुझे उनकी बात सुनकर बड़ा संतोष हुआ।"

"युवावस्थामें मैं श्राद्ध-तर्पण आदिपर थोड़ा संदेह करने लगा था—सुधारवादियोंके साथ रहनेके कारण ही इस प्रकारकी वृत्ति हो चली थी। पारसी प्रेतसे मिलने तथा उससे वार्तालाप होनेके पश्चात् श्राद्ध-तर्पणपर मेरी दृढ़ आस्था हो गयी। इस घटनाके पश्चात् इस सम्बन्धमें भगवत्कृपासे अन्य सूत्रोंसे भी मुझे पर्याप्त नयी-नयी सत्य जानकारी प्राप्त हुई। उन सब बातोंको बतानेमें मुझे संकोच है—कृपया क्षमा कीजियेगा। बस, इतना विश्वास कीजिये कि परलोकके सम्बन्धमें तथा मृत व्यक्तियोंके लिये श्राद्ध-तर्पण आदि करनेके सम्बन्धमें हमारे शास्त्रोंमें जो-जो बातें मिलती हैं, वे ऐसी हैं, मानो ऋषियोंने उन लोकोंकी स्थितिको प्रत्यक्ष देख-देखकर लिखा हो। ऐसी बात नहीं है कि रोचक और भयानक बातें बताकर लोगोंको अच्छे काममें लगानेके लिये उन्होंने ऐसा किया हो। अतएव मृत व्यक्तियोंके लिये श्राद्ध-तर्पण, पाठ-पूजा, दान आदि अवश्य करने-कराने चाहिये।"

श्रीभाईजीकी बातें जिज्ञासु सज्जन बड़ी ही उत्सुकतासे सुनते रहे। पूरी बात सुननेपर उनका हृदय भर आया और उन्होंने अपना मस्तक श्रीभाईजीकी गोदमें रख दिया और बोले—"महाशयजी! आज आपने मुझे अपने प्यारसे खरीद लिया। हमारे शास्त्र इतने सत्य हैं, यह मैं कभी कल्पना भी नहीं कर सकता था। आज मेरी श्राद्ध-तर्पणपर श्रद्धा जम गयी है। अब मैं अपने पूर्वजोंके लिये श्राद्ध-तर्पण, दान-पुण्य-आदि अवश्य करूँगा तथा स्वजनों-मित्रोंको भी इसके लिये प्रेरित करूँगा। प्रेतने जिन हेतुओंसे दुर्गति होनेकी बात कही है, उनके सम्बन्धमें मैं जीवनमें विशेष सावधान रहूँगा।"

'कल्याण'के दो पुराने विशेषाङ्क रियायती मूल्यपर प्राप्त करें !

(१) ४३वें वर्षका—परलोक और पुनर्जन्माङ्क—पृष्ठ-सं० ६९६, सचित्र, मूल्य रु० ९.०० ।

यह अङ्क परलोक और पुनर्जन्म-सम्बन्धी विचित्र समस्याओं और पहलुओंपर प्रकाश डालनेवाले विद्वत्तापूर्ण लेखों एवं पुनर्जन्मकी सत्य और रोचक घटनाओंका सुन्दर संकलन है । आज भी यह ५ वर्ष पूर्व छपे मूल्यपर ही प्राप्य है ।

(२) ४५वें वर्षका—अग्निपुराण-गर्गसंहिता-नरसिंहपुराण-अङ्क—पूरी फाइलसहित, मूल्य रु० ८.५० मात्र ।
सजिल्द रु० १०.०० ,, ।

(पूरी फाइलसहित—कुल पृष्ठ-संख्या १३६२, रंगीन चित्र ३०)

अग्निपुराण अध्याय २०१ से समाप्तितक	गर्गसंहिता अश्वमेधखण्ड एवं माहात्म्य	नरसिंहपुराण—सम्पूर्ण (मूल-अनुवादसहित)

यह अङ्क भक्ति, ज्ञान, वैराग्यसे ओत-प्रोत एवं भारतकी प्राचीन विद्या, कला, विज्ञान, संस्कृति आदिका दिग्दर्शन करानेवाली सामग्रीका अनूठा संग्रह है ।

इस विशेषाङ्कके साथ उस वर्षके ११ साधारण अङ्कोंके अतिरिक्त 'कल्याण'के पुराने १० साधारण अङ्क भी बिना मूल्य दिये जाते हैं । साथ ही मूल्यमें रु० १.५० की विशेष छूट दी गयी है । इस अङ्कका वास्तविक मूल्य रु० १०.०० एवं सजिल्दका रु० ११.५० है; और लिया जा रहा है—अजिल्दका रु० ८.५० और सजिल्दका रु० १०.०० मात्र ।

व्यवस्थापक—**'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

The Kalyaṇa-Kalpataru

Old monthly issues for sale at a highly reduced price viz. Rs. 4.00 only. Instead of Rs. 10.80 as under (Postage Free):—

Vol.	Issues Nos.	Original Price	Rs.	@
Vol. 24	Issues Nos. 1,2	Original Price	Rs. 0.62	@ 0.31 P.
Vol. 30	„ „ 4 to 11	„ „	Rs. 2.48	@ 0.31 P.
Vol. 31	„ „ 1 to 11	„ „	Rs. 3.85	@ 0.35 P.
Vol. 32	„ „ 1 to 11	„ „	Rs. 3.85	@ 0.35 P.
		Total	Rs. 10.80	

(In all 32 issues containing 1024 pages of printed matter and 32 Tri-Coloured [illegible]es of Lord Viṣṇu, Rāma, Kṛṣṇa and Śiva as well as of Śakti etc.)

Manager—
KALYĀṆA-KALPATARU
P. O. Gita Press, Gorakhpur.

पंजीकृत-सं०-जी० आर०-१३

भागवत धर्म

श्रीभगवानुवाच—

हन्त ते कथयिष्यामि मम धर्मान् सुमङ्गलान्। यान् श्रद्धयाऽऽचरन् मर्त्यो मृत्युं जयति दुर्जयम्॥
कुर्यात् सर्वाणि कर्माणि मदर्थं शनकैः स्मरन्। मय्यर्पितमनश्चित्तो मद्धर्मात्ममनोरतिः॥
देशान् पुण्यानाश्रयेत मद्भक्तैः साधुभिः श्रितान्। देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि च॥
पृथक् सत्रेण वा मह्यं पर्वयात्रामहोत्सवान्। कारयेद् गीतनृत्याद्यैर्महाराजविभूतिभिः॥
मामेव सर्वभूतेषु बहिरन्तरपावृतम्। ईक्षेतात्मनि चात्मानं यथा खममलाशयः॥
इति सर्वाणि भूतानि मद्भावेन महाद्युते। सभाजयन् मन्यमानो ज्ञानं केवलमाश्रितः॥
ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके। अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पण्डितो मतः॥
नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात्। स्पर्धासूयातिरस्काराः साहंकारा वियन्ति हि॥
विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम्। प्रणमेद् दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम्॥
यावत् सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते। तावदेवमुपासीत वाङ्मनःकायवृत्तिभिः॥
सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययाऽऽत्ममनीषया। परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः॥
अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम। मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः॥
न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपि। मया व्यवसितः सम्यङ्निर्गुणत्वादनाशिषः॥

(श्रीमद्भागवत ११। २९। ८–२०)

श्रीभगवान्‌ने कहा—प्रिय उद्धव ! अब मैं तुम्हें अपने उन मङ्गलमय भागवत धर्मोंका उपदेश करता हूँ, जिनका श्रद्धापूर्वक आचरण करके मनुष्य संसाररूप दुर्जय मृत्युको अनायास ही जीत लेता है। उद्धवजी ! मेरे भक्तको चाहिये कि अपने सारे कर्म मेरे लिये ही करे और धीरे-धीरे उनको करते समय मेरे स्मरणका अभ्यास बढ़ाये। कुछ ही दिनोंमें उसके मन और चित्त मुझमें समर्पित हो जायँगे। उसके मन और आत्मा मेरे ही धर्मोंमें रम जायँगे। मेरे भक्त साधुजन जिन पवित्र स्थानोंमें निवास करते हों, उन्हींमें रहे और देवता, असुर अथवा मनुष्योंमें जो मेरे अनन्य भक्त हों, उनके आचरणोंका अनुसरण करे। पर्वके अवसरोंपर सबके साथ मिलकर अथवा अकेला ही नृत्य, गान, वाद्य आदि महाराजोचित ठाट-बाटसे मेरी यात्रा आदिके महोत्सव करे। शुद्धान्तःकरण पुरुष आकाशके समान बाहर और भीतर परिपूर्ण एवं आवरणशून्य मुझ परमात्माको ही समस्त प्राणियों और अपने हृदयमें स्थित देखे। निर्मल बुद्धि उद्धवजी ! जो साधक केवल इस ज्ञानदृष्टिका आश्रय लेकर सम्पूर्ण प्राणियों और पदार्थोंमें मेरा दर्शन करता है और उन्हें मेरा ही रूप मानकर उनका सत्कार करता है तथा ब्राह्मण और चाण्डाल, चोर और ब्राह्मणभक्त, सूर्य और चिनगारी तथा कृपालु और क्रूरमें समान दृष्टि रखता है, उसे ही सच्चा ज्ञानी समझना चाहिये। जब निरन्तर सभी नर-नारियोंमें मेरी ही भावना की जाती है, तब थोड़े ही दिनोंमें साधकके चित्तसे स्पर्धा (होड़), ईर्ष्या, तिरस्कार और अहंकार आदि दोष दूर हो जाते हैं। अपने ही लोग यदि हँसी करें तो करने दे; उनकी परवा न करे; 'मैं अच्छा हूँ, वह बुरा है'—ऐसी देहदृष्टिको और लोक-लज्जाको छोड़ दे और कुत्ते, चाण्डाल, गौ एवं गधेको भी पृथ्वीपर गिरकर साष्टाङ्ग दंण्डवत्-प्रणाम करे। जबतक समस्त प्राणियोंमें मेरी भावना—भगवद्भावना न होने लगे, तबतक इस प्रकारसे मन, वाणी और शरीरके सभी संकल्पों और कर्मोंद्वारा मेरी उपासना करता रहे। उद्धवजी ! जब इस प्रकार सर्वत्र आत्मबुद्धि—ब्रह्मबुद्धिका अभ्यास किया जाता है, तब थोड़े ही दिनोंमें उसे ज्ञान होकर सब-कुछ ब्रह्मस्वरूप दीखने लगता है। ऐसी दृष्टि हो जानेपर सारे संशय-संदेह अपने-आप निवृत्त हो जाते हैं और वह सब-कहीं मेरा साक्षात्कार करके संसारदृष्टिसे उपराम हो जाता है। मेरी प्राप्तिके जितने साधन हैं, उनमें मैं तो सबसे श्रेष्ठ साधन यही समझता हूँ कि समस्त प्राणियों और पदार्थोंमें मन, वाणी और शरीरकी समस्त वृत्तियोंसे मेरी ही भावना की जाय। उद्धवजी ! यही मेरा अपना भागवत धर्म है; इसको एक बार आरम्भ कर देनेके बाद फिर किसी प्रकारकी विघ्न-बाधासे इसमें रत्तीभर भी अन्तर नहीं पड़ता; क्योंकि यह धर्म निष्काम है और स्वयं मैंने ही इसे निर्गुण होनेके कारण सर्वोत्तम निश्चय किया है।